प्रकाशक—
सन्मति ज्ञान पीठ
लोहामण्डी; आगरा

प्रथम प्रवेश
सं० २००७
मूल्य: १॥)

मुद्रक—
जगदीशप्रसाद अग्रवाल,
एम० ए० बी० कॉम०,
दी एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

समर्पण

जो तप और त्याग के उज्ज्वल प्रतीक थे, जिनके मन, वचन, कर्म से सदा विवेक का प्रकाश जगमगाता था, जिनका संयम माया की छाया से परे था, जिनकी साधना, आदर्श साधना थी, उन महास्थविर, पवित्रात्मा, दिवंगत क्षमा-श्रमण श्री नाथूलालजी महाराज की सेवा में सादर सभक्ति

समर्पित

प्रकाशकीय

यह आवश्यक दिग्दर्शन आपकी सेवा में उपस्थित है। श्रमण-सूत्र की भूमिका के रूप में यह सब लिखा गया था, और उस विराट ग्रन्थ के साथ यह प्रकाशित भी हुआ है। परन्तु कुछ विचारक सज्जनों का परामर्श था कि प्रस्तुत अंश को एक पृथक पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया जाय तो अच्छा रहेगा। स्वल्प मूल्य में आवश्यक-सम्बन्धी विचार-सामग्री सर्वसाधारण जनता को मिल सकेगी।

उपर्युक्त परामर्श को ध्यान में रखकर ही यह अंश पृथक् पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया गया है। आशा है प्रेमी पाठक हमारी इस योजना से लाभ उठाएँगे

—रतनलाल जैन

मंत्री, सन्मति ज्ञान-पीठ

आगरा

विषय-सूची



आवश्यक-दिग्दर्शन

: १ :

मानव-जीवन का महत्त्व

जब हम अपनी आँखें खोलते हैं और इधर-उधर देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे चारों ओर एक विराट संसार फैला दिखलाई पड़ता है। बड़े-बड़े नगर बसे हुए हैं और उनमें खासा अच्छा तूफान जीवन-संघर्ष के नाम पर चलता रहता है। दूर-दूर तक विशाल जंगल और मैदान हैं, जिनमें हजारों-लाखों वन्य पशु पक्षी अपने क्षुद्र जीवन की मोह-माया में उलझे रहते हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, नदी नाले हैं, झील हैं, समुद्र हैं, सर्वत्र असंख्य जीव-जन्तु अपनी जीवन यात्रा की दौड़ लगा रहे हैं। ऊपर आकाश की ओर देखते हैं तो वहाँ भी सूर्य, चन्द्र नक्षत्र और तारों का उज्ज्वल चमकता हुआ संसार दिन-रात अविराम गति से उदय-अस्त की परिक्रमा देने में लगा हुआ है।

यह संसार इतना ही नहीं है, जितना कि हम आँखों से देख रहे हैं या इधर-उधर कानों से सुन रहे हैं। हमारे आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़े की जानकारी सीमित है, अत्यन्त सीमित है। आखिर हमारी इन्द्रियाँ क्या कुछ जान सकती हैं? जब हम शास्त्रों को उठाकर देखते हैं तो आश्चर्य में रह जाते हैं। असंख्य द्वीप समुद्र, असंख्य नारक और असंख्य देवी देवताओं का संसार हम कहाँ आँखों से देख पाते हैं? उनका पता तो शास्त्र द्वारा ही लगता है। अहो कितनी बड़ी है यह दुनिया!

हमारे कोटि-कोटि वार अभिवन्दनीय देवाधिदेव भगवान् महावीर
स्वामी ने, देखिए, विश्व की विराटता का कितना सुन्दर चित्र उपस्थित
किया है ?

गौतम पूछते हैं—"भन्ते ! यह लोक कितना विशाल है ?"

भगवान् उत्तर देते हैं—"गौतम ! असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन
पूर्व दिशा में, असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन पश्चिम दिशा में, इसी
प्रकार असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधोदिशा
में लोक का विस्तार है ।"

—भगवती १२, ७, सू० ४५७ ।

गौतम प्रश्न करते हैं—"भंते ! यह लोक कितना बड़ा है ?"

भगवान् समाधान करते हैं—"गौतम ! लोक की विशालता को
समझने के लिए कल्पना करो कि एक लाख योजन के ऊँचे मेरु पर्वत
के शिखर पर छः महान् शक्तिशाली ऋद्धिसंपन्न देवता बैठे हुए हैं
और नीचे भूतल पर चार दिशाकुमारिकाएँ हाथों में बलिपिंड लिए
चार दिशाओं में खड़ी हुई हैं, जिनकी पीठ मेरु की ओर है एवं मुख
दिशाओं की ओर ।"

—"उक्त चारों दिशाकुमारिकाएँ इधर अपने बलिपिंडों को अपनी-
अपनी दिशाओं में एक साथ फेंकती हैं और उधर उन मेरुशिखरस्थ छः
देवताओं में से एक देवता तत्काल दौड़ लगाकर चारों ही बलिपिंडों को भूमि
पर गिरने से पहले ही पकड़ लेता है । इस प्रकार शीघ्रगति वाले वे
छहों देवता हैं, एक ही नहीं ।"

—"उपर्युक्त शीघ्र गति वाले छहों देवता एक दिन लोक का अन्त
मालूम करने के लिये क्रमशः छहों दिशाओं में चल पड़े । एक पूर्व की
ओर तो एक पश्चिम की ओर, एक दक्षिण की ओर तो एक उत्तर की
ओर, एक ऊपर की ओर तो एक नीचे की ओर । अपनी पूरी गति से
एक पल का भी विश्राम लिए बिना दिन-रात चलते रहे, चलते क्या
उड़ते रहे ।"

—"जिस क्षण देवता मेरुशिखर से उड़े, कल्पना करो, उसी क्षण किसी गृहस्थ के यहाँ एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् माता-पिता परलोकवासी हुए। पुत्र बड़ा हुआ और उसका विवाह होगया। वृद्धावस्था में उसके भी पुत्र हुआ और बूढ़ा हजार वर्ष की आयु पूरी करके चल बसा।"

गौतम स्वामी ने बीच में ही तर्क किया—"भन्ते! वे देवता, जो यथाकथित शीघ्र गति से लोक का अन्त लेने के लिए निरन्तर दौड़ लगा रहे थे, हजार वर्ष में क्या लोक के छोर तक पहुँच गए?"

भगवान् महावीर ने वस्तुस्थिति की गम्भीरता पर बल देते हुए कहा—"गौतम, अभी कहाँ पहुँचे हैं? इसके बाद तो उसका पुत्र, फिर उसका पुत्र, फिर उसका भी पुत्र, इस प्रकार एक के बाद एक-एक हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ी गुजर जायँ, इतना ही नहीं, उनके नाम गोत्र भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायँ, तब तक वे देवता चलते रहें, फिर भी लोक का अन्त नहीं प्राप्त कर सकते। इतना महान् और विराट् है यह संसार।" —भगवती ११, २०, सू० ४२१।

जैन साहित्य में विश्व की विराटता के लिए चौदह राजु की भी एक मान्यता है। मूल चौदहराजु और वर्ग कल्पना के अनुसार तीन सौ से कुछ अधिक राजु का यह संसार माना जाता है। एक व्याख्याकार राजु का परिमाण बताते हुए कहते हैं कि कोटिमण लोहे का गोला यदि ऊँचे आकाश से छोड़ा जाय और वह दिन रात अविराम गति से नीचे गिरता-गिरता छह मास में जितना लम्बा मार्ग तय करे, वह एक राजु की विशालता का परिमाण है।

विश्व की विराटता का अब तक जो वर्णन आपने पढ़ा है, सम्भव है, आपकी कल्पना शक्ति को स्पर्श न कर सके और आप यह कह कर अपनी बुद्धि को सन्तोष देना चाहें कि—'यह सब पुरानी गाथा है, किंवदन्ती है। इसके पीछे वैज्ञानिक विचार धारा का कोई आधार नहीं

है।' आज का युग-विज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है, फलतः ऐसा सोचना और कहना, अपने आप में कोई बुरी बात भी नहीं है।

अच्छा तो आइए, ज़रा विज्ञान की पोथियों के भी कुछ पन्ने उलट लें। सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ० गोरखनाथ का सौरपरिवार नामक भीमकाय ग्रन्थ लेखक के सामने है। पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय खुला हुआ है और उसमें सूर्य की दूरी के सम्बन्ध में जो ज्ञानवर्द्धक एवं साथ ही मनोरंजक वर्णन है, वह आपके सामने है, ज़रा धैर्य के साथ पढ़ने का कष्ट उठाएँ।

—"पता चला है कि सूर्य हमसे लगभग सवा नौ करोड़ मील की विकट दूरी पर है। सवा नौ करोड़! अंक गणित भी क्या ही विचित्र है कि इतनी बड़ी संख्या को आठ ही अंकों में लिख डालता है और इस प्रकार हमारी कल्पना शक्ति को भ्रम में डाल देता है। [अंक गणित का इतना विकास न होता तो आप एक, दो, तीन, चार, आदि के रूप में गिनकर इस तथ्य को समझते। परन्तु विचार कीजिए कि सवा नौ करोड़ तक गिनने में आपका कितना समय लगता?—लेखक] यदि आप बहुत शीघ्र गिनें तो शायद एक मिनट में २०० तक गिन डालें, परन्तु इसी गति से लगातार, बिना एक क्षण भोजन या सोने के लिये रुके हुए गिनते रहने पर भी आप को सवा नौ करोड़ तक गिनने में ११ महीना लग जायगा।"

सूर्य पर घोर शब्द होने से पृथ्वी पर वह चौदह वर्ष बाद सुनाई पड़ता।"

—सौर परिवार, ९ वाँ अध्याय

अकेले सूर्य के सम्बन्ध में ही यह बात नहीं है। वैज्ञानिक और भी बहुत से दिव्य लोक स्वीकार करते हैं और उन सबकी दूरी की कल्पना चक्कर में डाल देने वाली है। वैज्ञानिक प्रकाश की गति प्रति सेकिण्ड—मिनट भी नहीं—१,८६००० मील मानते हैं। हाँ, तो वैज्ञानिकों के कुछ दिव्य लोक इतनी दूरी पर हैं कि वहाँ से प्रकाश जैसे शीघ्र-गामी दूत को भी पृथ्वी तक उतरने में हजारों वर्ष लग जाते हैं। अब मैं इस सम्बन्ध में अधिक कुछ न कहूँगा। जिस सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना है, उसकी काफी लम्बी चौड़ी भूमिका बँध चुकी है। आइए, इस महाविश्व में अब मनुष्य की खोज करें।

यह विराट् संसार जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। जहाँ देखते हैं, वहाँ जीव ही जीव दृष्टिगोचर होते हैं। भूमण्डल पर कीड़े-मकोड़े, बिच्छू-साँप, गधे-घोड़े आदि विभिन्न आकृति एवं रंग रूपों में कितने कोटि प्राणी चक्कर काट रहे हैं। समुद्रों में कच्छ मच्छ, मगर, घड़ियाल आदि कितने जलचर जीव अपनी संहार लीला में लगे हुए हैं। आकाश में भी कितने कोटि रंग-बिरंगे पक्षीगण उड़ानें भर रहे हैं। इनके अतिरिक्त वे असंख्य सूक्ष्म जीव भी हैं, जो वैज्ञानिक भाषा में कीटाणु के नाम से जाने गए हैं, जिनको हमारी ये स्थूल आँखें स्वतन्त्र रूप में देख भी नहीं सकतीं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में असंख्य जीवों का एक विराट संसार सोया पड़ा है। पानी की एक नन्ही-सी बूंद असंख्य जलकाय जीवों का विश्राम स्थल है। पृथ्वी का एक छोटा-सा रजकण असंख्य पृथ्वीकायिक जीवों का पिंड है। अग्नि और वायु के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी इसी प्रकार असंख्य जीवराशि से समाविष्ट हैं। वनस्पति काय के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? वहाँ तो पनक (काई) आदि निगोद में अनन्त जीवों का संसार मनुष्य के एक श्वास लेने जैसे क्षुद्रकाल में कुछ अधिक सत्तरह बार जन्म, जरा और मरण का खेल

खेलता रहता है। और वे अनन्त जीव एक ही शरीर में रहते हैं, फलतः उनका आहार और श्वास एक साथ ही होता है! हाहन्त! कितनी दयनीय है जीवन की विडंबना! भगवान् महावीर ने इसी विराट जीव राशि को ध्यान में रखकर अपने पावापुर के प्रवचन में कहा है कि सूक्ष्म पाँच स्थावरों से यह असंख्य योजनात्मक विराट संसार (काजल की कुप्पी के समान) ठसाठस भरा हुआ है, कहीं पर अणुमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ कोई सूक्ष्म जीव न हो। सम्पूर्ण लोकाकाश सूक्ष्म जीवों से परिव्याप्त है—'**सुहुमा सव्वलोगम्मि**।'—उत्तराध्ययन सूत्र ३६ वाँ अध्ययन।

हाँ, तो इस महाकाय विराट संसार में मनुष्य का क्या स्थान है? अनन्तानन्त जीवों के संसार में मनुष्य एक नन्हे-से क्षेत्र में अवरुद्ध-सा खड़ा है। जहाँ अन्य जाति के जीव असंख्य तथा अनन्त संख्या में हैं, वहाँ यह मानव जाति अत्यन्त अल्प एवं सीमित है। जैन शास्त्रकार माता के गर्भ से पैदा होने वाली मानवजाति की संख्या को कुछ अंकों तक ही सीमित मानते हैं। एक कवि एवं दार्शनिक की भाषा में कहें तो विश्व की अनन्तानन्त जीवराशि के सामने मनुष्य की गणना में आ जाने वाली अल्प संख्या उसी प्रकार है कि जिस प्रकार विश्व के नदी नालों एवं समुद्रों के सामने पानी की एक फुहार और संसार के समस्त पहाड़ों एवं भूपिण्ड के सामने एक ज़रा-सा धूल का कण! आज संसार के दूर-दूर तक के मैदानों में मानवजाति के जाति, देश या धर्म के नाम पर किए गए कल्पित टुकड़ों में संघर्ष छिड़ा हुआ है कि 'हाय हम अल्प-संख्यक हैं, हमारा क्या हाल होगा? बहुसंख्यक हमें तो जीवित भी नहीं रहने देंगे।' परन्तु ये टुकड़े यह ज़रा भी नहीं विचार पाते कि विश्व की असंख्य जीव जातियों के समक्ष यदि कोई सचमुच अल्प संख्यक जीवजाति है तो वह मानवजाति है। चौदह राजुलोक में से उसे केवल सब से क्षुद्र एवं सीमित ढाई द्वीप ही रहने को मिले हैं। क्या समूची मानवजाति अकेले में बैठकर कभी अपनी अल्पसंख्यकता पर विचार करेगी?

संसार में अनन्तकाल से भटकती हुई कोई आत्मा जब क्रमिक विकाश का मार्ग अपनाती है तो वह अनन्त पुण्य कर्म का उदय होने पर निगोद से निकल कर प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी, जल आदि की योनियों में जन्म लेती है। और जब यहाँ भी अनन्त शुभकर्म का उदय होता है तो द्वीन्द्रिय केंचुआ आदि के रूप में जन्म होता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय चींटी आदि, चतुरिन्द्रिय मक्खी मच्छर आदि, पञ्चेन्द्रिय नारक तिर्यंच आदि की विभिन्न योनियों को पार करता हुआ, क्रमशः ऊपर उठता हुआ जीव, अनन्त पुण्य बल के प्रभाव से कहीं मनुष्य जन्म ग्रहण करता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि जब "अशुभ कर्मों का भार दूर होता है, आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनता है, तब कहीं वह मनुष्य की सर्व-श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।"

कम्माणं तु पहाणाए
आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता
आययंति मणुस्सयं॥

—(उत्तराध्ययन ३।७)

विश्व में मनुष्य ही सब से थोड़ी संख्या में है, अतः वही सबसे दुर्लभ भी है, महार्घ भी है। व्यापार के क्षेत्र में यह सर्व साधारण का परखा हुआ सिद्धान्त है कि जो चीज़ जितनी ही अल्प होगी, वह उतनी ही अधिक मँहगी भी होगी। और फिर मनुष्य तो अल्प भी है और केवल अल्पता के नाते ही नहीं, अपितु गुणों के नाते श्रेष्ठ भी है। भगवान् महावीर ने इसी लिए गौतम को उपदेश देते हुए कहा है—"संसारी जीवों को मनुष्य का जन्म चिरकाल तक इधर उधर की अन्य योनियों में भटकने के बाद बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, वह सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा ही भयंकर होता है, अतएव हे गौतम! क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत कर।"

दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिर कालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—(उत्तराध्ययन १० । ४)

जैन संस्कृति में मानव-जन्म को बहुत ही दुर्लभ एवं महान् माना गया है। मनुष्य जन्म पाना, किस प्रकार दुर्लभ है, इस के लिए जैन संस्कृति के व्याख्याताओं ने दश दृष्टान्तों का निरूपण किया है। सब के सब उदाहरणों के कहने का न यहाँ अवकाश ही है और न औचित्य ही। वस्तु-स्थिति की स्पष्टता के लिए कुछ बातें आपके सामने रक्खी जा रही हैं, आशा है, आप जैसे जिज्ञासु इन्हीं के द्वारा मानवजीवन का महत्त्व समझ सकेंगे।

"कल्पना करो कि भारत वर्ष के जितने भी छोटे बड़े धान्य हों, उन सब को एक देवता किसी स्थान-विशेष पर यदि इकट्ठा करे, पहाड़ जितना ऊँचा गगन चुम्बी ढेर लगा दे। और उस ढेर में एक सेर सरसों मिलादे, खूब अच्छी तरह उथल-पुथल कर। सौ वर्ष की बुढ़िया, जिसके हाथ काँपते हों, गर्दन काँपती हो, और आँखों से भी कम दीखता हो! उस को छाज देकर कहा जाय कि 'इस धान्य के ढेर में से सेर भर सरसों निकाल दो।' क्या वह बुढ़िया सरसों का एक-एक दाना बीन कर पुनः सेर भर सरसों का अलग ढेर निकाल सकती है? आप को असंभव मालूम होता है। परन्तु यह सब तो किसी तरह देवशक्ति आदि के द्वारा संभव भी हो सकता है, परन्तु एक बार मनुष्यजन्म पाकर खो देने के बाद पुनः उसे प्राप्त करना सहज नहीं है।"

"एक बहुत लम्बा चौड़ा जलाशय था, जो हजारों वर्षों से शैवाल (काई) की मोटी तह से आच्छादित रहता आया था। एक कछुवा अपने परिवार के साथ जब से जन्मा, तभी से शैवाल के नीचे अन्धकार

में ही जीवन गुजार रहा था। उसे पता ही न था कि कोई और भी दुनिया हो सकती है। एक दिन बहुत भयंकर तेज अंधड़ चला और उस शैवाल में एक जगह ज़रा-सा छेद हो गया। दैवयोग से वह कछुआ उस समय वहीं छेद के नीचे गर्दन लम्बी कर रहा था तो उसने सहसा देखा कि ऊपर आकाश चाँद, नक्षत्र और अनेक कोटि ताराओं की ज्योति से जगमग-जगमग कर रहा है। कछुवा आनंद-विभोर हो उठा। उसे अपने जीवन में यह दृश्य देखने का पहला ही अवसर मिला था। वह प्रसन्न होकर अपने साथियों के पास दौड़ा गया कि 'आओ, मैं तुम्हें एक नई दुनिया का सुन्दर दृश्य दिखाऊँ। वह दुनिया हमसे ऊपर है, रत्नों से जड़ी हुई, जगमग-जगमग करती!' सब साथी दौड़ कर आए, परन्तु इतने में ही वह छेद बन्द हो चुका था और शैवाल का अखण्ड आवरण पुनः अपने पहले के रूप में तन गया था। वह कछुवा बहुत देर तक इधर-उधर टक्कर मारता रहा, परन्तु कुछ भी न दिखा सका! साथी हँसते हुए चले गए कि मालूम होता है, तुमने कोई स्वप्न देख लिया है! क्या उस कछुवे को पुनः छेद मिल सकता है, ताकि वह चाँद और तारों से जगमगाता आकाश-लोक अपने साथियों को दिखा सके? यह सब हो सकता है, परन्तु नर-जन्म खोने के बाद पुनः उसका मिलना सरल नहीं है।"

"स्वयंभूरमण समुद्र सबसे बड़ा समुद्र माना गया है, असंख्यात हजार योजन का लंबा-चौड़ा। पूर्व दिशा के किनारे पर एक जूआ पानी में छोड़ दिया जाय, और दूसरी तरफ़ पश्चिम के किनारे पर एक कीली। क्या कभी हवा के झोंकों से लहरों पर तैरती हुई कीली जूए के छेद में अपने आप आकर लग सकती है? संभव है यह अघटित घटना घटित हो जाय! परन्तु एक बार खोने के बाद मनुष्य जन्म का फिर प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है!"

"कल्पना करो कि एक देवता पत्थर के स्तम्भ को पीस कर आटे की तरह चूर्ण बना दे और उसे बाँस की नली में डालकर मेरु पर्वत की

चोटी पर से फूंक मार कर उड़ा दे। वह स्तम्भ परमाणुरूप में होकर विश्व में इधर-उधर फैल जाय! क्या कभी ऐसा हो सकता है कि कोई देवता उन परमाणुओं को फिर इकट्ठा कर ले और उन्हें पुनः उसी स्तम्भ के रूप में बदल दे? यह असंभव, सम्भव है, संभव हो भी जाय। परन्तु मनुष्य जन्म का पाना बड़ा ही दुर्लभ है, दुष्प्राप्य है।"

—(आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८३२)

ऊपर के उदाहरण, जैन-संस्कृति के वे उदाहरण हैं, जो मानव-जन्म की दुर्लभता का डिंडिमनाद कर रहे हैं। जैन-धर्म के अनुसार देव होना उतना दुर्लभ नहीं है, जितना कि मनुष्य होना दुर्लभ है! जैन साहित्य में आप जहाँ भी कहीं किसी को सम्बोधित होते हुए देखेंगे, वहाँ 'देवाणुप्पिय' शब्द का प्रयोग पायेंगे। भगवान् महावीर भी आने वाले मनुष्यों को इसी 'देवाणुप्पिय' शब्द से सम्बोधित करते थे। 'देवाणुप्पिय' का अर्थ है—"देवानुप्रिय'। अर्थात् 'देवताओं को भी प्रिय।' मनुष्य की श्रेष्ठता कितनी ऊँची भूमिका पर पहुँच रही है। दुर्भाग्य से मानव जाति ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, और वह अपनी श्रेष्ठता को भूल कर अवमानता के दल-दल में फँस गई है। 'मनुष्य! तू देवताओं से भी ऊँचा है। देवता भी तुझसे प्रेम करते हैं। वे भी मनुष्य बनने के लिए आतुर हैं।' कितनी विराट प्रेरणा है, मनुष्य की सुप्त आत्मा को जगाने के लिए।

जैन संस्कृति का अमर गायक आचार्य अमित गति कहता है कि—'जिस प्रकार मानव लोक में चक्रवर्ती, स्वर्गलोक में इन्द्र, पशुओं में सिंह, व्रतों में प्रशम भाव, और पर्वतों में स्वर्णगिरि मेरु प्रधान है—श्रेष्ठ है, उसी प्रकार संसार के सब जन्मों में मनुष्य जन्म सर्व श्रेष्ठ है।'

नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री,
मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु।

मतो महीभृत्सु सुवर्ण-शैलो,
भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम् ॥

—(श्रावकाचार १ । १२)

महाभारत में व्यास भी कहते हैं कि 'आओ, मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताऊँ! यह अच्छी तरह मन में दृढ़ कर लो कि संसार में मनुष्य से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नहीं है।'

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
नहि मानुषात्
श्रेष्ठतरं हि किंचित्!

—महाभारत

वैदिक धर्म ईश्वर को कर्ता मानने वाला संप्रदाय है। शुकदेव ने इसी भावना में, देखिए, कितना सुन्दर वर्णन किया है, मनुष्य की सर्व-श्रेष्ठता का। वे कहते हैं कि "ईश्वर ने अपनी आत्म शक्ति से नाना प्रकार की सृष्टि वृक्ष, पशु, सरकने वाले जीव, पक्षी, दंश और मछली को बनाया। किन्तु इनसे वह तृप्त न हो सका, सन्तुष्ट न हो सका। आखिर मनुष्य को बनाया, और उसे देख आनन्द में मग्न हो गया! ईश्वर ने इस बात से सन्तोष माना कि मेरा और मेरी सृष्टि का रहस्य समझने वाला मनुष्य अब तैयार हो गया है।"

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या,
वृक्षान् सरीसृप-पशून् खग-दंश-मत्स्यान्।
तैस्तैरतृप्त-हृदयो मनुजं विधाय,
ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः ॥

—भागवत

महाभारत में एक स्थान पर इन्द्र कह रहा है 'कि भाग्यशाली है वे, जो दो हाथ वाले मनुष्य हैं। मुझे दो हाथ वाले मनुष्य के प्रति स्पृहा है।'

'पाणिमद्भ्यः स्पृहाऽस्माकम् ।'

देखिए, एक मस्तराम क्या धुन लगा रहे हैं ? उनका कहना है—'मनुष्य दो हाथ वाला ईश्वर है ।'

'द्विभुजः परमेश्वरः ।'

महाराष्ट्र के महान् सन्त तुकाराम कहते हैं कि 'स्वर्ग के देवता इच्छा करते हैं—'हे प्रभु ! हमें मृत्यु लोक में जन्म चाहिये । अर्थात् हमें मनुष्य बनने की चाह है !'

स्वर्गीं चे अमर इच्छितातो देवा;
मृत्युलोकीं व्हावा जन्म आम्हां ।

सन्त श्रेष्ठ तुलसीदास बोल रहे हैं :—

'बड़े भाग मानुप तन पावा,
सुर-दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा ।'

ज़रा उर्दू भाषा के एक मार्मिक कवि की वाणी भी सुन लीजिए । आप भी मनुष्य को देवताओं से बढ़कर बता रहे हैं—

'फ़रिश्ते से बढ़कर है इन्सान बनना,
मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा ।'

बेशक, इन्सान बनने में बहुत ज़ियादा मेहनत उठानी पड़ती है, बहुत अधिक श्रम करना होता है । जैनशास्त्रकार, मनुष्य बनने की साधना के मार्ग को बड़ा कठोर और दुर्गम मानते हैं । औपपातिक सूत्र में भगवान् महावीर का प्रवचन है कि "जो प्राणी छल, कपट से दूर रहता है—प्रकृति अर्थात् स्वभाव से ही सरल होता है, अहंकार से शून्य होकर विनयशील होता है—सब छोटे-बड़ों का यथोचित आदर सम्मान करता है, दूसरों की किसी भी प्रकार की उन्नति को देखकर डाह नहीं करता है—प्रत्युत हृदय में हर्ष और आनन्द की स्वाभाविक अनुभूति करता है, जिसके रग-रग में दया का संचार है—जो किसी भी दुःखित

प्राणी को देखकर द्रवित हो उठता है एवं उसकी सहायता के लिए तन, मन, धन सब लुटाने को तैयार हो जाता है, वह मृत्यु के पश्चात् मनुष्य जन्म पाने का अधिकारी होता है।"

ऊँचा विचार और ऊँचा आचरण ही मानव जन्म की पृष्ठ भूमि है। यहाँ जो कुछ भी बताया गया है, वह अन्दर के जीवन की पवित्रता का भाव ही बताया गया है। किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक क्रिया-काण्ड और रीति-रिवाज का उल्लेख तक नहीं किया है। भगवान् महावीर का आशय केवल इतना है कि तुम्हें मनुष्य बनने के लिए किसी सम्प्रदाय-विशेष के विधि-विधानों एवं क्रियाकाण्डों की शर्त नहीं पूरी करनी है। तुम्हें तो अपने अन्दर के जीवन में मात्र सरलता, विनय-शीलता, अमात्सर्य भाव एवं दयाभाव की सुगन्ध भरनी है। जो भी प्राणी ऐसा कर सकेगा, वह अवश्य ही मनुष्य बन सकेगा। परन्तु आप जानते हैं, यह काम सहज नहीं है, तलवार की धार पर नंगे पैरों नाचने से भी कहीं अधिक दुर्गम है यह मानवता का मार्ग! जीवन के विकारों से लड़ना, कुछ हँसी खेल नहीं है। अपने मन को मार कर ही ऐसा किया जा सकता है। तभी तो हमारा कवि कहता है कि:—

"फरिश्ते से बढ़कर है इन्सान बनना;
मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा।"

: २ :

मानव-जीवन का ध्येय

मानव, अखिल संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। परन्तु ज़रा विचार कीजिए, यह सर्व श्रेष्ठता किस बात की है? मनुष्य के पास ऐसा क्या है, जिसके बल पर वह स्वयं भी अपनी सर्वश्रेष्ठता का दावा करता है और हमारे शास्त्र भी उसकी सर्वश्रेष्ठता की दुहाई देते हैं।

क्या मनुष्य के पास शारीरिक शक्ति बहुत बड़ी है? क्या यह शक्ति ही इसके बड़प्पन की निशानी है? यदि यह बात है तो मुझे इन्कार करना पड़ेगा कि यह कोई महत्त्व की चीज नहीं है। संसार के दूसरे प्राणियों के सामने मनुष्य की शक्ति कितना मूल्य रखती है? वह तुच्छ है, नगण्य है। मनुष्य तो दूसरे विराटकाय प्राणियों के सामने एक नन्हा-सा-लाचार सा कीड़ा लगता है। जंगल का विशालकाय हाथी कितना अधिक बलशाली होता है? पचास-सौ मनुष्यों को देख पाए तो सूँड से चीर कर सबके टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दे। वन का राजा सिंह कितना भयानक प्राणी है? पहाड़ों को गुँजा देने वाली उसकी एक गर्जना ही मनुष्य के जीवन को चुनौती है। आपने वन-मानुषों का वर्णन सुना होगा? वे आपके समान ही मानव-आकृति धारी पशु हैं। इतने बड़े बलवान कि कुछ पूछिए नहीं। वे तेंदुओं को इस प्रकार उठा-उठा कर पटकते और मारते हैं, जिस प्रकार साधारण मनुष्य रबड़ की गेंद को! [illegible] कांगो में एक मृत वनमानुष को तोला गया तो वह

दो टन अर्थात् ५४ मन वजन में निकला ! मनुष्य इस भीमकाय प्राणी के सामने क्या अस्तित्व रखता है ? वह तो उस वन मानुष के चाँटे का धन भी नहीं ! और वह शुतुरमुर्ग कितना भयानक पक्षी है ? कभी-कभी इतने जोर से लात मारता है कि आदमी चूर-चूर हो जाता है। उसकी लात खाकर जीवित रहना असंभव है। जब वह दौड़ता है तो प्रति घंटा २६ मील की गति से दौड़ सकता है। क्या आप में से कोई ऐसा मनुष्य है, उसके साथ दौड़ लगाने वाला।

मनुष्य का जीवन तो अत्यन्त क्षुद्र जीवन है। उसका बल अन्य प्राणियों की दृष्टि में परिहास की चीज है। वह रोगों से इतना घिरा हुआ है कि किसी भी समय उसे रोग की ठोकर लग सकती है और वह जीवन से हाथ धोने के लिए मजबूर हो सकता है ! और तो क्या, साधारण-सा मलेरिया का मच्छर भी मनुष्य की मौत का सन्देश लिए घूमता है। एक पहलवान बड़े ही विराट काय एवं बलवान आदमी थे। सारा शरीर गठा हुआ था लोहे जैसा ! अंग-अंग पर रक्त की लालिमा फूटी पड़ती थी। कितनी ही बार लेखक के पास आया-जाया करते थे। दर्शन करते, प्रवचन सुनते और कुछ थोड़ा बहुत अवकाश मिलता तो अपनी विजय की कहानियाँ दुहरा जाते ! बड़े-बड़े पहलवानों को मिनटों में पछाड़ देने की घटनाएँ जब वे सुनाते तो मैं देखता, उनकी छाती अहंकार से फूल उठती थी। बीच में दो तीन दिन नहीं आए। एक दिन आए तो बिल्कुल निढाल, बेदम ! शरीर लड़खड़ा-सा रहा था ! मैंने पूछा—'पहलवान साहब क्या हुआ ?' पहलवान जी बोले—'महाराज ! हुआ क्या ? आपके दर्शन भाग्य में बदे थे सो मरता-मरता बचा हूँ ! मेरा तो मलेरिया ने दम तोड़ दिया।' मैं हँस पड़ा। मैंने कहा—'पहलवान साहब ! आप जैसे बलवान पहलवान को एक नन्हे से मच्छर ने पछाड़ दिया। और वह भी इस बुरी तरह से !' पहलवान हँसकर चुप हो गया। यह अमर सत्य है मनुष्य के बल का ! यहाँ उत्तर बन ही क्या सकता है ? क्या मनुष्य इसी बल के भरोसे बड़े होने का

स्वप्न ले रहा है ? मनुष्य के शरीर का वास्तविक रूप क्या है ? इसके लिए एक कवि की कुछ पंक्तियाँ पढ़लें तो ठीक रहेगा।

आदमी का जिस्म क्या है जिसपे शैदा है जहाँ;
एक मिट्टी की इमारत, एक मिट्टी का मकाँ!
खून का गारा है इसमें और ईंटें हड्डियाँ;
चंद साँसों पर खड़ा है, यह खयाली आसमाँ!
मौत की पुरज़ोर आँधी इससे जब टकरायगी;
देख लेना यह इमारत टूट कर गिर जायगी!

यदि बल नहीं तो क्या रूप से मनुष्य महान् नहीं बन सकता ? रूप क्या है ? मिट्टी की मूरत पर ज़रा चमकदार रंग रोगन! इस को धुलते और साफ होते कुछ देर लगती है ? संसार के बड़े-बड़े सुन्दर तरुण और तरुणियाँ कुछ दिन ही अपने रूप और यौवन की बहार दिखा सके। फूल खिलने भी नहीं पाता है कि मुरझाना शुरू हो जाता है! किसी रोग अथवा चोट का आक्रमण होता है कि रूप कुरूप हो जाता है, और सुन्दर अंग भग्न एवं जर्जर! सनत्कुमार चक्रवर्ती को रूप का अहंकार करते कुछ क्षण ही गुज़रने पाये थे कि कोढ़ ने आ घेरा। सोने-सा निखरा हुआ शरीर सड़ने लगा। दुर्गन्ध असह्य हो गई। मथुरा की जनपदकल्याणी वासवदत्ता कितनी रूपगर्विता थी। रात्रि के सघन अन्धकार में भी दीपशिखा के समान जगमग-जगमग होती रहती थी! परन्तु बौद्ध इतिहास कहता है कि एक दिन चेचक का आक्रमण हुआ। सारा शरीर क्षत विक्षत हो गया, सड़ने लगा, जगह-जगह से मवाद बह निकला। राजा, जो उसके रूप का खरीदा हुआ गुलाम था, वासवदत्ता को नगर के बाहर गंदे कूड़े के ढेर पर मरने को फिकवा देता है। यह है मनुष्य के रूप की इति। क्या चमड़े का रंग और हड्डियों का गठन भी कुछ महत्त्व रखता है ? चमड़े के हलके से परदे के नीचे क्या कुछ भरा हुआ है ? स्मरण मात्र से घृणा होने लगती है! जो कुछ

अन्दर है, वह यदि बाहर आ जाय तो गीध, कौवे और कुत्ते उसे नोच खाएँ! कहीं भी बाहर आना-जाना कठिन हो जाय। और यह मनुष्य का रूप दूसरे पशु पक्षियों की तुलना में है भी क्या चीज ? मयूर कितना सुन्दर पक्षी है! गर्दन और पंखों का सौन्दर्य मोह लेने वाला है। शुतुरमुर्ग के शानदार छोटे से छोटे पंख का मूल्य, कहते हैं—चालीस से पचास रुपयों तक होता है। मनुष्य की वाणी का माधुर्य कोयल से उपमित होता है। गति की उपमा हंस की गति से और नाक की उपमा तोते की चोंच से दी जाती है। किं बहुना, प्रत्येक अंग का सौन्दर्य विभिन्न पशु पक्षियों के अवयवों से तुलना पाकर ही कवि की वाणी पर चढ़ता है। इस का अर्थ तो यह हुआ कि मनुष्य का रूप पशु-पक्षियों के सामने तुच्छ है, नगण्य है! अतएव रूप की दृष्टि से मनुष्य की महत्ता और श्रेष्ठता का कुछ भी मूल्य नहीं है।

अब रहा, परिवार का बड़प्पन! क्या मनुष्य के दस-बीस बेटे, पोते और नाती हो जाने से उसका कुछ महत्त्व बढ़ जाता है? कितना ही बड़ा परिवार हो, कितनी ही अधिक सन्तति हो, मनुष्य का महत्त्व इनसे अणुमात्र भी बढ़ने वाला नहीं है। रावण का इतना बड़ा परिवार था, आखिर वह क्या काम आया? छप्पन कोटि यादव, जो एक दिन भारतवर्ष के करोड़ों लोगों के भाग्य-विधाता बन बैठे थे, अन्त में कहाँ विलीन हो गए? श्री कृष्ण को यादव जाति के द्वारा क्या सुख मिला? मथुरा के राजा उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म हुआ। बड़ा भाग्यशाली पुत्र था जो भारत के प्रतिवासुदेव जरासन्ध का प्यारा दामाद बना! परन्तु उग्रसेन को क्या मिला? जेलखाना मिला और मिली प्रतिदिन पीठ पर पाँचसौ कोड़ों की असह्य मार! और राजा श्रेणिक को भी तो वह अजातशत्रु कौणिक पुत्र के रूप में प्राप्त हुआ था, जिसके वैभव के वर्णन से औपपातिक सूत्र की प्रस्तावना अटी पड़ी है। परन्तु राजा श्रेणिक से पूछते तो पता चलता कि पुत्र और परिवार का क्या आनन्द होता है? यह पुत्र का ही काम था कि राजा श्रेणिक को अपने बुढ़ापे की घड़ियाँ

का गला काट कर मिले। ग़रीब जनता के गर्म खून से सना हुआ पैसा भी उसके लिए पूज्य परमेश्वर है, उपास्य देव है। उसका सिद्धान्त सूत्र अनादि काल से यही चला आ रहा है कि 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।' 'आना अंशकला प्रोक्ता रूप्योऽसौ भगवान् स्वयम्।' परन्तु क्या मानव जीवन का यही ध्येय है कि धन के पीछे पागल बनकर घूमता रहे? क्या धन अपने-आप में इतना महत्वपूर्ण है? क्या तेली के बैल की तरह रात-दिन धन की चिन्ता में घुल-घुल कर ही जीवन की अन्तिम घड़ियों के द्वार पर पहुँचा जाय? यदि दुनिया भर की बेईमानी करके कुछ लाख का धन एकत्रित कर भी लिया तो क्या बन जायगा? रावण के पास कितना धन था? सारी लंका नगरी ही सोने की थी। लंका के नागरिक सोने की सुरक्षा के लिए आजकल की तरह तिजौरी तो न रखते होंगे? जिनके यहाँ घर की दीवार, छत और फर्श भी सोने के हों, भला वहाँ सोने के लिए तिजौरी रखने का क्या अर्थ? और भारत की द्वारिका नगरी भी तो सोने की थी! क्या हुआ इन सोने की नगरियों का? दोनों का ही अस्तित्व खाक में मिल गया। सोने की लंका ने रावण को राक्षस बना दिया तो सोने की द्वारिका ने यादवों को नर-पशु। लंका और द्वारिका के धनी मनुष्यत्व से हाथ धो बैठे थे, दुराचारों में फँस गए थे। धन के अतिरेक ने उन्हें अंधा बना दिया था। आज कुछ गौरव है, उन धनी मानी नरेशों का? मैं दिल्ली और आगरा में बिखरे हुए मुगल सम्राटों के वैभव को देख रहा हूँ। क्या लाल किला और ताज इसीलिए बनाए गए थे कि उन पर चाँद सितारे के मुस्लिम झंडे के स्थान पर अँग्रेज़ों का यूनियन जैक फहराए। आज कहाँ हैं, मुग़ल सम्राटों के उत्तराधिकारी? कितने अत्याचार किए, कितने निरीह जनसमूह क़तल किए? परन्तु वे सिंहासन, जिनके पाये पाताल में गाड़कर मजबूत किए जा रहे थे, उखड़े बिना न रहे। और वह यूनियन जैक भी कहाँ है, जो समुद्रों पार से तूफान की तरह चढ़ता, हाहाकार मचाता भारत में आया था? क्या वह वापस लौटने के इरादे

की बुद्धि-लीला ! वह अपने बुद्धि कौशल से स्वर्ग बनाने चला था और कुछ बनाया भी था; परन्तु अब बन क्या गया है ? साक्षात् घोर नरक ! क्या यह बुद्धि मनुष्य के लिए गर्व करने की वस्तु है ? जिस बुद्धि के पीछे विवेक नहीं है धर्म की पिपासा नहीं है, वह बुद्धि मनुष्य को मनुष्य न रहने देकर राक्षस बना देती है। अपनी स्वार्थपूर्ति कर ली, जो मनचाहा काम बना लिया, क्या इस बुद्धि को ही मनुष्य-जीवन की सर्वश्रेष्ठता का गौरव दिया जाय ! खाना, पीना और ऐश आराम तो अपनी-अपनी समझ के द्वारा पशुपक्षी भी कर लेते हैं। पारिवारिक व्यवस्था और कमानेखाने की बुद्धि उनमें भी बहुतों की बड़ी शानदार होती है। उदाहरण के लिए आप फाकलैण्ड के द्वीप-समूह में पाई जाने वाली नमाजी चिड़ियाओं को ले सकते हैं। ये तीस से चालीस हजार तक की संख्या के विशाल झुण्डों में रहती हैं। ये फौजी सिपाहियों की तरह कतार बाँध कर खड़ी होती हैं। और आश्चर्य की बात तो यह है कि बच्चों को अलग विभक्त कर के खड़ा करती हैं, नर पक्षियों को अलग तो मादा पक्षियों को अलग। इतना ही नहीं, यह और वर्गीकरण करती हैं कि साफ और तगड़े पक्षियों को अलग तथा पर झाड़ने वाले, गन्दे और कमजोर पक्षियों को अलग ! कितने गज़ब की है सैनिक पद्धति से वर्गीकरण करने की कल्पना शक्ति ! और ये मधुमक्खियाँ भी कितनी विलक्षण हैं ? मधुमक्खियों के छत्ते में, विशेषज्ञों के मतानुसार, लगभग तीसहजार से साठ हजार तक मक्खियाँ होती हैं। उनमें बहुत अच्छा सुदृढ़ संगठन होता है। सब का कार्य उचित पद्धति से बटा हुआ होता है, फलतः हरएक मक्खी को मालूम रहता है कि उसे क्या काम करना है ? इसलिए वहाँ कभी कोई काम बाकी नहीं रह पाता, नित्य का काम नित्य समाप्त हो जाता है। छत्ते के अन्दर सब तरह का काम होता है— आहार का प्रबन्ध, छत्ता बनाने के लिए सामान का प्रबन्ध, गोदाम का प्रबन्ध, सफाई का प्रबन्ध, मकान का प्रबन्ध और चौकी पहरे का प्रबन्ध ! कुछ को छत्ते के अन्दर गर्मी, हवा और सफाई का प्रबन्ध देखना होता

है। कुछ को बच्चों की देखभाल करनी पड़ती है। इस पर भी कड़ी नज़र रखी जाती है कि कोई किसी प्रकार की दुष्टता या कामचोरी न करने पाए! और उन आस्ट्रेलिया की नदियों में पाई जाने वाली निशानेबाज मछलियों की कहानी भी कुछ कम विचित्र नहीं है। यह मछली अपने शिकार की ताक में रहती है। जब वह देखती है कि नदी के किनारे उगे हुए पौधों की पत्तियों पर कोई मक्खी या मकोड़ा बैठा है तो चुपचाप उसके पास जाती है और मुँह में पानी भर कर कुल्ले का ठीक निशाना ऐसे ज़ोर से मारती है कि वह मकोड़ा तुरन्त पानी में गिर पड़ता है और मछली का आहार बन कर काल के गाल में पहुँच जाता है। इस मछली का निशाना शायद ही कभी चूकता है! वैज्ञानिकों ने इसका नाम टॉक्सेटेस रक्खा है, जिसका अर्थ है धनुषधारी! एटलांटिक महासागर में उड़ने वाली मछलियाँ भी होती हैं। काफी लम्बा लिख चुका हूँ। अब अधिक उदाहरणों की अपेक्षा नहीं है। न मालूम कितने कोटि पशु-पक्षी ऐसे हैं, जो मनुष्य के समान ही छलछंद रचते हैं, अकल लड़ाते हैं, जाल फैलाते हैं और अपना पेट भरते हैं। अस्तु खाने कमाने की, मौज शौक उड़ाने की, यदि मनुष्य ने कुछ चतुरता पाई है तो क्या यह उसकी अपनी कोई श्रेष्ठता है? क्या इस चातुर्य पर गर्व किया जाय? नहीं, यह मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है!

मानव जीवन का ध्येय न धन है, न रूप है, न बल है और न सांसारिक बुद्धि ही है। यों ही कहीं से घूमता-फिरता भटकता आत्मा मानव शरीर में आया, कुछ दिन रहा, खाया-पीया, लड़ा झगड़ा, हँसा रोया और एक दिन मर कर काल प्रवाह में आगे के लिए बह गया, भला यह भी कोई जीवन है? जीवन का उद्देश्य मरण नहीं है, किन्तु मरण पर विजय है। आजतक हम लोगों ने किया ही क्या है? कहीं पर जन्म लिया है, कुछ दिन जिन्दा रहे हैं और फिर पाँव पसार कर सदा के लिये लेट गए हैं। इस विराट् संसार में कोई भी भी जाति, कुल, वर्ण और स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ हमने

अनन्त-अनन्त बार जन्ममरण न किया हो ? भगवती सूत्र में हमारे जन्म-मरण की दुःख भरी कहानी का स्पष्टीकरण करने वाली एक महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तरी है !

गौतम गणधर पूछते हैं:—

"भंते ! असंख्यात कोड़ी कोड़ा योजन-परिमाण इस विस्तृत विराट लोक में क्या कहीं ऐसा भी स्थान है, जहाँ कि इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ?"

भगवान् महावीर उत्तर देते हैं:—

"गौतम ! अधिक तो क्या, एक परमाणु पुद्गल जितना भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो।"

...."नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा।" —[भग १२, ७, सू० ४५७]

भगवान् महावीर के शब्दों में यह है हमारी जन्म-मरण की कड़ियों का लम्बा इतिहास ! बड़ी दुखभरी है हमारी कहानी ! अब हम इस कहानी को कब तक दुहराते जायँगे ? क्या मानव जीवन का ध्येय एक-मात्र जन्म लेना और मर जाना ही है। क्या हम यों ही उतरते चढ़ते, गिरते-पड़ते इस महाकाल के प्रवाह में तिनके की तरह बेबस लाचार बहते ही चले जायँगे ? क्या कहीं किनारा पाना, हमारे भाग्य में नहीं बदा है ? नहीं, हम मनुष्य हैं, विश्व के सर्वश्रेष्ठ प्राणी हैं। हम अपने जीवन के लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेंगे ! यदि हमने मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं प्राप्त किया तो फिर हम में और दूसरे पशु पक्षियों में अन्तर ही क्या रह जायगा ? हमारे जीवन का ध्येय, अधर्म नहीं, धर्म है—अन्याय नहीं, न्याय है—दुराचार नहीं, सदाचार है—भोग नहीं, त्याग है। धर्म, त्याग और सदाचार ही हमें पशुत्व से अलग करता है। अन्यथा हम में और पशु में कोई अन्तर नहीं है, कोई भेद नहीं है। इस सम्बन्ध में एक आचार्य कहते भी हैं कि आहार, निद्रा, भय और कामवासना जैसी पशु में हैं वैसी ही मनुष्य में भी हैं; अतः इनको ले कर, भोग को

महत्त्व देकर मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता ! एक धर्म ही मनुष्य के पास ऐसा है, जो उसकी अपनी विशेषता है, महत्ता है। अतः जो मनुष्य धर्म से शून्य हैं, वे पशु के समान ही हैं।

"आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥"

मनुष्य अमर होना चाहता है। इसके लिए वह कितनी औषधियाँ खाता है, कितने देवी देवता मनाता है, कितने अन्याय और अत्याचार के जाल बिछाता है ! परन्तु क्या यह अमर होने का मार्ग है ? अमर होने के लिए मनुष्य को धर्म की शरण लेनी होगी, त्याग का आश्रय लेना होगा।

भगवान् महावीर कहते हैं :—

"वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमंमि लोए अदुवा परत्था"

—उत्तराध्ययन सूत्र

—प्रमत्त मनुष्य की धन के द्वारा रक्षा नहीं हो सकेगी; न इस लोक में और न परलोक में।

कठोपनिषत् कार कहते हैं :—

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।"

—मनुष्य कभी धन से तृप्त नहीं हो सकता।

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥"

—श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष दोनों का भली भाँति विचार करके प्रेय की अपेक्षा श्रेय को श्रेष्ठ समझ कर ग्रहण करता है, और इसके विपरीत मन्द बुद्धि वाला मनुष्य लौकिक योग-क्षेम के फेर में पड़ कर त्याग की अपेक्षा भोग को अच्छा समझता है—उसे अपना लेता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते,
कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति,
अत्र ब्रह्म समश्नुते॥"

—साधक के हृदय में रही हुई कामनाएँ जब सबकी सब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है, ब्रह्मत्व भाव को प्राप्त कर लेता है।

एक हिन्दी कवि भी धर्म और सदाचार के महत्त्व पर, देखिए, कितनी सुन्दर बोली बोल रहा है :—

"धन, धान्य गयो, कछु नाहिं गयो,
आरोग्य गयो, कछु खो दीन्हो।
चारित्र गयो, सर्वस्व गयो,
जग जन्म अकारथ ही लीन्हो॥"

भगवान् महावीर ने या दूसरे महापुरुषों ने मनुष्य की श्रेष्ठता के जो गीत गाए हैं, वे धर्म और सदाचार के रंग में गहरे रंगे हुए मनुष्यों के ही गाए हैं। मनुष्य के से हाथ पैर पा लेने से कोई मनुष्य नहीं बन जाता। मनुष्य बनता है, मनुष्य की आत्मा पाने से। और वह आत्मा मिलती है, धर्म के आचरण से। यों तो मनुष्य रावण भी था? परन्तु कैसा था? ग्यारह लाख वर्ष से प्रति वर्ष उसे मारते आ रहे हैं, गालियाँ देते आ रहे हैं, जलाते आ रहे हैं। यह सब क्यों? इसलिए कि उसने

मनुष्य बनकर मनुष्य का जैसा काम नहीं किया, फलतः वह मनुष्य होकर भी राक्षस कहलाया। भोग, निरा भोग मनुष्य को राक्षस बनाता है। एक मात्र त्यागभावना ही है जो मनुष्य को मनुष्य बनाने की क्षमता रखती है। भोगविलास की दल दल में फँसे रहने वाले रावणों के लिए हमारे दार्शनिकों ने '**द्विभुजः परमेश्वरः**' नहीं कहा है।

यूनान का एक दार्शनिक दिन के बारह बजे लालटेन जला कर एथेंस नगरी के बाज़ारों में कई घंटे घूमता रहा। जनता के लिए आश्चर्य की बात थी कि दिन में प्रकाश के लिए लालटेन लेकर घूमना !

एक जगह कुछ हजार आदमी इकट्ठे होगए और पूछने लगे कि "यह सब क्या हो रहा है ?"

दार्शनिक ने कहा—"मैं लालटेन की रोशनी में इतने घन्टों से आदमी ढूँढ रहा हूँ।"

सब लोग खिल खिला कर हँस पड़े और कहने लगे कि "हम हजारों आदमी आपके सामने हैं। इन्हें लालटेन लेकर देखने की क्या बात है ?"

दार्शनिक ने गर्ज कर कहा—"अरे क्या तुम भी अपने आपको मनुष्य समझे हुए हो ? यदि तुम भी मनुष्य हो तो फिर पशु और राक्षस कौन होंगे ? तुम दुनिया भर के अत्याचार करते हो, छल छंद रचते हो, भाइयों का गला काटते हो, कामवासना की पूर्ति के लिए कुत्तों की तरह मारे-मारे फिरते हो, और फिर भी मनुष्य हो ! मुझे मनुष्य चाहिए, बन मानुष नहीं !"

दार्शनिक की यह कठोर, किन्तु सत्य उक्ति, प्रत्येक मनुष्य के लिए, चिन्तन की चीज़ है।

एक और दार्शनिक ने कहा है कि "संसार में एक जिन्स ऐसी है, जो बहुत अधिक परिमाण में मिलती है, परन्तु मनमुताबिक नहीं मिलती।" वह जिन्स और कोई नहीं, इन्सान है। जो होने को तो अबों

की संख्या में हैं, परन्तु वे कितने हैं, जो इन्सानियत की तराज़ू पर गुणों की तौल में पूरे उतरते हों! सच्चा मनुष्य वही है, जिसकी आत्मा धर्म और सदाचार की सुगन्ध से निशदिन महकती रहती हो।

भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने २६ जनवरी १६४८ के दिल्ली-प्रवचन में मनुष्यता के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा था—"भारतवर्ष ने हमेशा रूहानियत की, आत्मशक्ति की ही कद्र की है, अधिकार और पैसे की नहीं। देश की असली दौलत, इन्सानी दौलत है। देश में योग्य और नैतिक दृष्टि से बुलन्द जितने इन्सान होंगे, उतना ही वह आगे बढ़ता है।"

प्रधानमंत्री, भारत को लेकर जो बात कह रहे हैं, वह सम्पूर्ण मानव-विश्व के लिए है। मनुष्यता ही सबसे बड़ी सम्पति है। जिस के पास वह है, वह मनुष्य है, और जिस के पास वह नहीं है, वह पशु है, साक्षात् राक्षस है। और वह मनुष्यता स्वयं क्या चीज़ है? वह है मनुष्य का व्यक्तिगत भोगविलास की मनोवृत्ति से अलग रहना, त्याग मार्ग अपनाना, धर्म और सदाचार के रंग में अपने को रँगना, जन्म-मरण के बन्धनों को तोड़कर अजर अमर पद पाने का प्रयत्न करना। संसार की अंधेरी गलियों में भटकना, मानव-जीवन का ध्येय नहीं है। मानव-जीवन का ध्येय है अजर अमर मनुष्यता का पूर्ण प्रकाश पाना। वह प्रकाश, जिससे बढ़कर कोई प्रकाश, नहीं। वह ध्येय, जिससे बढ़कर कोई ध्येय नहीं।

: २ :

सच्चे सुख की शोध

आज से नहीं, लाखों करोड़ों असंख्य वर्षों से संसार के कोने-कोने में एक प्रश्न पूछा जा रहा है कि यह प्रवृत्ति, यह संघर्ष, यह दौड़ धूप किस लिए है ? प्रत्येक प्राणी के अन्तर्हृदय से एक ही उत्तर दिया जा रहा है—सुख के लिए, आनन्द के लिए, शान्ति के लिए। हर कोई जीव सुख चाहता है, दुःख से भागता है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख के लिए प्रयत्नशील है। चींटी से लेकर हाथी तक, रंक से लेकर राजा तक, नारक से लेकर देवता तक क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् प्रत्येक संसारी प्राणी सुख को ध्रुवतारा बनाए दौड़ा जारहा है! अनन्त-अनन्त काल से प्रत्येक जीवन इसी सुख के चारों ओर चक्कर काटता रहा है। सुख कौन नहीं चाहता ? शान्ति किसे अभीष्ट नहीं ? सब को सुख चाहिए। सब को शान्ति चाहिए।

सुख प्राप्ति की धुन में ही मनुष्य ने नगर बसाए, परिवार बनाए। बड़े-बड़े साम्राज्यों की नींव डाली, सोने के सिंहासन खड़े किए। सुख के लिए ही मनुष्य ने मनुष्य से प्यार किया, और द्वेष भी किया! आज तक के इतिहास में हजारों खून की नदियाँ बही हैं, वे सब सुख के लिए बही हैं, अपनी तृप्ति के लिए बही हैं। सुख की खोज में भटक कर मानव, मानव नहीं रहा, साक्षात् पशु बन गया है, राक्षस होगया है। यह क्यों हुआ ?

भारतीय शास्त्रकारों ने सुख को दो भागों में विभक्त किया है। एक सुख आन्तरिक है तो दूसरा बाह्य। एक आत्मनिष्ठ है

तो दूसरा वस्तुनिष्ठ। एक आध्यात्मिक है तो दूसरा भौतिक। एक अजर अमर है तो दूसरा क्षणिक, क्षण भंगुर। एक दुःख की कालिमा से सर्वथा रहित है तो दूसरा विषमिश्रित मोदक।

बाह्य सुख में सब प्रकार के भौतिक तथा पौद्गलिक सुखों का समावेश हो जाता है। यह सुख वस्तुनिष्ठ है, अतः वस्तु है तो सुख है, अन्यथा दुःख! एक बच्चा रो रहा है। आपने खिलौना दिया तो आनन्द में उछल पड़ा, नाचने लगा। परन्तु कितनी देर? देखिए, खिलौना टूट गया है, और वह बच्चा अब पहले से भी अधिक रो रहा है। कहाँ गया, वह आनन्द-नृत्य? खिलौने के साथ साथ वह भी टूट गया; क्योंकि वह वस्तुनिष्ठ था। यही सुख, वह सुख है, जिसके पीछे संसारी प्राणी पागल की तरह भटकता आरहा है, अपने समय और शक्तियों का अपव्यय करता आ रहा है। इस सुख का केन्द्र धन है, विषय वासना है, भोग लिप्सा है, वस्तु संग्रह है, सन्तान की इच्छा है, स्वजन परिजन आदि हैं। परन्तु यह सब सुख, सुख नहीं, सुखाभास है। भोगवासना की तृप्ति में कल्पित सुख की अपेक्षा वास्तविक दुःख ही अधिक है। अधिक क्या, अनन्त है। 'खणमित्तसुक्खा, बहुकाल दुक्खा।'

क्या धन में सुख है? धनप्राप्ति के लिए कितना दम्भ रचा जाता है? कितनी घृणा? कितना द्वेष? कितना अत्याचार? भाई भाई का गला काट रहा है, धन के लिए। विश्व व्यापी युद्धों में प्रजा के खून की नदियाँ बह रही हैं, धन के लिए। मनुष्य धन के लिए पहाड़ों पर चढ़ता है, रेगिस्तानों में भटकता है, समुद्रों में डूबता है, फिर भी भाग्य का द्वार नहीं खुल पाता। साधारण मजदूर कहता है कि हाय धन मिले तो आराम से जिन्दगी कटे, संसार में और कुछ दुर्लभ नहीं, दुर्लभ है—एक मात्र धन!

परन्तु सेठिया कहता है कि अरे धन की क्या बात है? मैंने लाखों कमाये हैं, और अब लाखों कमा सकता हूँ। मैंने सब तरफ धन के ढेर लगा दिए हैं, सोने के महल खड़े कर दिए हैं। परन्तु इस धन

का होगा क्या ? कोई पुत्र नहीं, जो इस धन का उत्तराधिकारी हो। एक भी पुत्र होता तो मैं सुखी हो जाता, मेरा जीवन सफल हो जाता। आज बिना पुत्र के घर सूना-सूना है, मरघट-सा लगता है। पुत्र ! हा पुत्र ! घर का दीपक !

परन्तु आइए, यह राजा उग्रसेन है और यह राजा श्रेणिक ! पुत्र सुख के सम्बन्ध में इनसे पूछिए, क्या कहते हैं ? दोनों ही नरेश कहते हैं कि "बाबा, ऐसे पुत्रों से तो बिना पुत्र ही अच्छे। भूल में हैं वे लोग, जो पुत्रैषणा में पागल हो रहे हैं। हमें हमारे पुत्रों ने कैद में डाला, काठ के पिंजड़े में बन्द किया। न समय पर रोटी मिली, न कपड़ा और न पानी ही ! पशु की भाँति दुःख के हाहाकार में जिन्दगी के दिन गुजारे हैं। पुत्र और परिवार का सुख एक कल्पना है, विशुद्ध भ्रान्ति है।"

सच्चा सुख है आत्मा में। सुख का झरना अन्यत्र कहीं नहीं, अपने अन्दर ही बह रहा है। जब आत्मा बाहर भटकता है, परपरिणति में जाता है तो दुःख का शिकार होता है। और जब वह लौट कर अपने अन्दर में ही आता है, वैराग्य रसका आस्वादन करता है, संयम के अमृत प्रवाह में अवगाहन करता है, तो सुख, शान्ति और आनन्द का ठाठें मारता हुआ क्षीर सागर अपने अन्दर ही मिल जाता है। जब तक मनुष्य वस्तुओं के पीछे भागता है, धन, पुत्र, परिवार एवं भोग-वासना आदि की दल-दल में फँसता है, तब तक शान्ति नहीं मिल सकती। यह वह आग है, जितना ईंधन डालोगे, उतना ही बढ़ेगी, बुझेगी नहीं। वह मूर्ख है, जो आग में घी डालकर उसकी भूख बुझाना चाहता है। जब भोग का त्याग करेगा, तभी सच्चा आनन्द मिलेगा। सच्चा सुख भोग में नहीं, त्याग में है; वस्तु में नहीं, आत्मा में है। आरुणिकोपनिषद् में कथा आती है कि प्रजापति के पुत्र आरुणि ऋषि कहीं जारहे थे। क्या देखा कि एक कुत्ता मांस से सनी हुई हड्डी मुख में लिए कहीं जा रहा था। हड्डी को देख कर कई कुत्तों के मुख में पानी

भर आया और उन्होंने आकर कुत्ते को घेर लिया एवं सब के सब दांत पंजे आदि से उसको मारने लगे। यह देखकर बेचारे कुत्ते ने मुख से हड्डी छोड़ दी। हड्डी छोड़ते ही सब कुत्ते उसे छोड़कर हड्डी के पीछे पड़ गए और वह कुत्ता जान बचाकर भाग गया। उन कुत्तों में हड्डी के पीछे बहुत देर तक लड़ाई होती रही और वे सब के सब घायल होगए। यह तमाशा देखकर आरुणि ऋषि विचार करने लगे कि "अहो, जितना दुःख है, ग्रहण में ही है, त्याग में दुःख कुछ नहीं है, प्रत्युत सुख ही है। जब तक कुत्ते ने हड्डी न छोड़ी, तब तक पिटता और घायल होता रहा और जब हड्डी छोड़ दी, तो सुखी होगया। इससे सिद्ध होता है कि त्याग ही सुख रूप है, ग्रहण में दुःख है। हाथ से ग्रहण करने में दुःख हो, इसका तो कहना ही क्या है, मन से विषय का ध्यान करने में भी दुःख ही होता है। सच कहा है कि विषयों का ध्यान करने से उनमें संग होता है, संग होने से उनकी प्राप्ति की कामना होती है, कामना में प्रतिबन्ध पड़ने से क्रोध होता है। कामना पूरी होने पर लोभ होता है, लोभ से मोह होता है, मोह से स्मृति नष्ट होती है—सद्गुरु का उपदेश याद नहीं रहता, स्मृति नष्ट होने से विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है, और विवेक बुद्धि नष्ट होने से जीव नरक में जाता है; इसलिए विषयाशक्ति ही सब अनर्थ का मूल कारण है! **'खाणी अणत्थाण उ कामभोगा'** जब विषयों का त्याग होता है, वैराग्य होता है, तभी सच्चे सुख का झरना अन्तरात्मा में बहता है और जन्म जन्मान्तरों से आने वाले वैषयिक सुख दुःख के मैल को बहाकर साफ कर डालता है।

बाह्य दृष्टि से धन वैभव, भोग विलास कितने ही रमणीय एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं, परन्तु विवेकी मनुष्य तो इन में सुख की गन्ध भी नहीं देखता। विषयासक्त होकर आज तक किसी ने कुछ भी सुख नहीं पाया। विषयासक्त मनुष्य, अपने आप में कितना ही क्यों न बड़ा हो, एक दिन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों से सदा के लिए हाथ धो बैठता है। क्या कभी विषयतृष्णा भोग से शान्त

हो सकती है ? कभी नहीं । वह तो जितना भोग भोगेंगे, उतनी प्रति पल बढ़ती ही जायगी । मनुष्य की एक इच्छा पूरी नहीं होती कि दूसरी उठ खड़ी होती है । वह पूरी नहीं हो पाती कि तीसरी आ धमकती है । इच्छाओं का यह सिलसिला टूट ही नहीं पाता । मनुष्य का मन परस्पर-विरोधी इच्छाओं का वैसा ही केन्द्र है, जैसा कि हजारों-लाखों उठती-गिरती लहरों का केन्द्र समुद्र ! एक दरिद्र मनुष्य कहता है कि यदि कहीं से पचास रुपए माहवारी मिलजाएं तो मैं सुखी हो जाऊँ ! जिसको पचास मिल रहे हैं, वह सौ के लिए छटपटा रहा है और सौ वाला हजार के लिए । इस प्रकार लाखों, करोड़ों और अरबों पर दौड़ लग रही है । परन्तु आप विचार करें कि यदि पचास में सुख है तो पचास वाला सौ, सौ वाला हजार, और हजार वाला लाख, और लाख वाला करोड़ क्यों चाहता है ? इसका अर्थ है कि वैषयिक सुख, सुख नहीं है । वह वस्तुतः दुःख ही है । भगवान् महावीर ने वैषयिक सुख के लिए शहद से लिप्त तलवार की धार का उदाहरण दिया है । यदि शहद पुती तलवार की धार को चाटें तो कितनी देर का सुख ? और चाटते समय धार से जीभ कटते ही कितना लम्बा दुःख ? इसीलिए भगवान् महावीर ने अन्यत्र भी कहा है कि 'सब वैषयिक गान विलाप हैं, सब नाच रंग विडंबना है, सब अलंकार शरीर पर बोझ हैं, किं बहुना ? जो भी काम भोग हैं, सब दुःख के देने वाले हैं ।'

सव्वं विलवियं गीयं,
सव्वं नट्टं विडंवियं ।
सव्वे आभरणा भारा,
सव्वे कामा दुहावहा ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र १३।१६)

सच्चा सुख त्याग में है । जिसने विषयाशा छोड़ी उसी ने सच्चा सुख पाया । उससे बढ़कर संसार में और कौन सुखी हो सकता है ? जैन-

संस्कृति के एक अमर गायक ने कहा है कि देवलोक के देवता भी सुखी नहीं हैं। सेठ और सेनापति तो सुखी होंगे ही कहाँ से? भूमण्डल पर शासन करने वाला चक्रवर्ती राजा भी सुखी नहीं है, वह भी पिपासा के अन्धकार में भटक रहा है। अस्तु, संसार में सुखी कोई नहीं। सुखी है, एक मात्र वीतराग भाव की साधना करने वाला त्यागी साधक!

न वि सुही देवया देवलोए,
न वि सुही सेट्ठि सेणावई य।
न वि सुही पुढविपई राया,
एगंत-सुही साहू वीयरागी॥

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने त्यागजन्य आत्मनिष्ठ सुख की महत्ता और भोगजन्य वस्तुनिष्ठ वैषयिक सुख की हीनता बताते हुए कहा है कि बारह मास तक वीतराग भाव की साधना करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ का आत्मनिष्ठ सुख, सर्वार्थ सिद्धि के सर्वोत्कृष्ट देवों के सुख से कहीं बढ़कर है! संयम के सुख के सामने भला बेचारा वैषयिक सुख क्या अस्तित्व रखता है?

वैदिक धर्म के महान् योगी भर्तृहरि भी इसी स्वर में कहते हैं कि भोग में रोग का भय है, कुल में किसी की मृत्यु का भय है, धन में राजा या चोर का भय है, युद्ध में पराजय का भय है। किं बहुना, संसार की प्रत्येक ऊँची से ऊँची और सुन्दर से सुन्दर वस्तु भय से युक्त है। एक मात्र वैराग्य भाव ही ऐसा है, जो पूर्ण रूप से अभय है, निराकुल है।

'सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।'

—वैराग्य शतक

यह उद्गार उस महाराजाधिराज भर्तृहरि का है, जिस के द्वार पर संसार की लक्ष्मी खरीदी हुई दासी की भाँति नृत्य किया करती थी, बड़े-बड़े राजा महाराजा क्षुद्र सेवक की भाँति आज्ञापालन के लिए नंगे पैरों

दौड़ते थे। एक से एक अप्सरा सी सुन्दर रानियाँ अन्तःपुर में दीपशिखा की भाँति अन्धकार में प्रकाश रेखा सी नित्यनवीन शृंगार साधना में व्यस्त रहती थीं। यह सब होते हुए भी भर्तृहरि को वैभव में आनन्द नहीं मिला, उसकी आत्मा की प्यास नहीं बुझी। संसार के सुख भोगते रहे, भोगते रहे, बढ़-चढ़ कर भोगते रहे; परन्तु अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि संसार के सब भोग क्षणभंगुर हैं, विनाशी हैं, कष्टप्रद हैं, इह लोक में पश्चात्ताप और परलोक में नरक के देने वाले हैं। जब कि संसार के इस प्रकार धनी मानी राजाओं की यह दशा है तो फिर तुच्छ अभावग्रस्त संसारी जीव किस गणना में है?

जहाँ भोग तहँ रोग है, जहाँ रोग तहँ सोग,
जहाँ योग तहँ भोग नहिं, जहाँ योग, नहिं भोग!

बात जरा लंबी होगई है, अतः समेट लूँ तो अच्छा रहेगा। सच्चा सुख क्या है, यह बात आपके ध्यान में आगई होगी। विषय सुख की निःसारता का स्पष्ट चित्र आपके सामने रख छोड़ा है। विषय सुख क्षणभंगुर है, क्योंकि विषय स्वयं जो क्षणभंगुर है। वस्तु विनाशी है तो वस्तुनिष्ठ सुख भी विनाशी है। जैसा कारण होगा, वैसा ही कार्य होगा। मिट्टी के बने पदार्थ मिट्टी के ही होंगे। नीम के वृक्ष पर आम कैसे लग सकते हैं? अतः क्षणभंगुर वस्तु से सुख भी क्षणभंगुर ही होगा, अन्यथा नहीं। अब रहा आत्मनिष्ठ सुख। आत्मा अजर अमर है, अविनाशी है, अतः तन्निष्ठ सुख भी अजर अमर अविनाशी ही होगा। अहिंसा, सत्य, संयम, शील, त्याग, वैराग्य, दया, करुणा आदि सब आत्मधर्म हैं। अतः इनकी साधना से होने वाला आध्यात्मिक सुख आत्मा से होने वाला सुख है; और वह अविनाशी सुख है, कभी भी नष्ट न होने वाला! छान्दोग्य उपनिषद् में सुख की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'जो अल्प है, विनाशी है, वह सुख नहीं है। और जो भूमा है, महान् है, अनन्त है, अविनाशी है, वस्तुतः वही सच्चा सुख है।'

यो वै भूमा तत्सुखं
नाल्पे सुखमस्ति ।

(छान्दोग्य ७ । २३ । १)

हाँ, तो क्या साधक सच्चा सुख पाना चाहता है ? और चाहता है सच्चे मन से, अन्दर के दिल से ? यदि हाँ तो आइए मन की भोगाकांक्षा को धूल की तरह अलग फेंक कर त्याग के मार्ग पर, वैराग्य के पथ पर ! ममता के क्षुद्र घेरे को तोड़ने के बाद ही साधक भूमा होता है, महान् होता है, अजर अमर अनन्त होता है। और वह सच्चा सुख भी पूर्ण रूपेण यहीं इसी दशा में प्राप्त होता है ! भूले साथियो ! अविनाशी सुख चाहते हो तो अविनाशी आत्मा की शरण में आओ। यहीं सच्चा सुख मिलेगा। वह आत्मनिष्ठ है, अन्यत्र कहीं नहीं।

: ४ :

श्रावक-धर्म

एक बार एक पुराने अनुभवी संत धर्म-प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन करते करते तरंग में आ गए और अपने श्रोताओं से प्रश्न पूछने लगे, "बताओ, दिल्ली से लाहौर जाने के कितने मार्ग हैं ?"

श्रोता विचार में पड़ गए। संत के प्रश्न करने की शैली इतनी प्रभावपूर्ण थी कि श्रोता उत्तर देने में हतप्रतिभ से हो गए। कहीं मेरा उत्तर गलत न हो जाय, इस प्रकार प्रतिष्ठाहानिरूप कुशंका उत्तर तो क्या, उंत्तर के रूप में कुछ भी बोलने ही नहीं दे रही थी।

उत्तर की थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद अन्ततोगत्वा सन्त ने ही कहा, "लो, मैं ही बताऊँ। दिल्ली से लाहौर जाने के दो मार्ग हैं।" श्रोता अब भी उलझन में थे। अतः सन्त ने आगे कुछ विश्लेषण करते हुए कहा—"एक मार्ग है स्थल का, जो आप मोटर से, रेल से या पैदल, किसी भी तरह तय करते हैं। और दूसरा मार्ग है आकाश से होकर जिसे आप वायुयान के द्वारा तय कर पाते हैं। पहला सरल मार्ग है, परन्तु देर का है। और दूसरा कठिन मार्ग है, खतरे से भरा है, परन्तु है शीघ्रता का।"

उपर्युक्त रूपक को अपने धार्मिक विचार का वाहन बनाते हुए सन्त ने कहा—"कुछ समझे ? मोक्ष के भी इसी प्रकार दो मार्ग हैं। एक गृहस्थ धर्म तो दूसरा साधु धर्म। दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग कोई

नहीं। परन्तु पहला सरल होते हुए भी ज़रा देर का है। और दूसरा कठिन होते हुए भी बड़ी शीघ्रता का है। बताओ, तुम कौन से मार्ग से मोक्ष जाना चाहते हो?

सन्त की बात को लम्बी करने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ प्रयोजन है एक मात्र पिछले अध्यायों की संगति लगाने का और जीवन की राह ढूँढने का। मानव जीवन का लक्ष्य है सच्चा सुख। और वह सच्चा सुख है त्याग में, धर्म के आचरण में। धर्माचरण और त्याग से हीन मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु है। मिट्टी को मनुष्य का आकार मिल जाने में ही कोई विशेषता नहीं है। यह आकार तो हमें अनन्त अनन्त बार मिला है, परन्तु उस से परिणाम क्या निकला? रावण मनुष्य था और राम भी, परन्तु दोनों में कितना अन्तर था? पहला शरीर के आकार से मनुष्य था तो दूसरा आत्मा की दिव्य विभूति के द्वारा मनुष्य था। जब तक मनुष्य की आत्मा में मनुष्यता का प्रवेश न हो, तब तक न उस मानव व्यक्ति का कल्याण है और न उसके आसपास के मानव समाज का ही। मानव का विश्लेषण करता हुआ, देखिए, लोकोक्ति का यह सूत्र, क्या कह रहा है—"आदमी आदमी में अन्तर, कोई हीरा कोई कंकर।"

कौन हीरा है और कौन कंकर? इस प्रश्न के उत्तर में पहले भी कह आए हैं और अब भी कह रहे हैं कि जो धर्म का आचरण करता है, गृहस्थ का अथवा साधु का किसी भी प्रकार का त्याग-मार्ग अपनाता है, वह मनुष्य प्रकाशमान हीरा है। और धर्माचरण से शून्य, भोग-विलास के अन्धकार में आत्म-स्वरूप से भटका हुआ मनुष्य, भले ही दुनियादारी की दृष्टि से कितना ही क्यों न बड़ा हो, परन्तु वस्तुतः मिट्टी का कंकर है। सच्चा और खरा मनुष्य वही है, जो अपने बन्धन तोड़ने का प्रयत्न करता है और अपने को मोक्ष का अधिकारी बनाता है।

जैन संस्कृति के अनुसार मोक्ष का एकमात्र मार्ग धर्म है, और

उसके दो भेद हैं—सागार धर्म और अनगार धर्म। सागार धर्म गृहस्थ धर्म को कहते हैं, और अनगार धर्म साधु धर्म को। भगवान् महावीर ने इसी सम्बन्ध में कहा है:—

चरित्त - धम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—
अगार चरित्त धम्मे चेव अणगारचरित्त धम्मे चेव

[स्थानांग सूत्र]

सागार धर्म एक सीमित मार्ग है। वह जीवन की सरल किन्तु छोटी पगडंडी है। वह धर्म, जीवन का राज मार्ग नहीं है। गृहस्थ संसार में रहता है, अतः उस पर परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तर दायित्व है। यही कारण है कि वह पूर्ण रूपेण अहिंसा और सत्य के राज-मार्ग पर नहीं चल सकता। उसे अपने विरोधी प्रतिद्वन्द्वी लोगों से संघर्ष करना पड़ता है, जीवनयात्रा के लिए कुछ-न-कुछ शोषण का मार्ग अपनाना होता है, परिग्रह का जाल बुनना होता है न्याय मार्ग पर चलते हुए भी अपने व्यक्तिगत या सामाजिक स्वार्थों के लिए कहीं न कहीं किसी से टकराना पड़ जाता है, अतः वह पूर्णतया निरपेक्ष स्वात्मपरिणति रूप अखण्ड अहिंसा सत्य के अनुयायी साधुधर्म का दावेदार नहीं हो सकता।

गृहस्थ का धर्म अणु है, छोटा है, परन्तु वह हीन एवं निन्दनीय नहीं है। कुछ पक्षान्ध लोगों ने गृहस्थ को जहर का भरा हुआ कटोरा बताया है। वे कहते हैं कि जहर के प्याले को किसी भी ओर से पीजिए, जहर ही पीने में आयगा, वहाँ अमृत कैसा? गृहस्थ का जीवन जिधर भी देखो उधर ही पाप से भरा हुआ है, उसका प्रत्येक आचरण पापमय है, विकारमय है, उसमें धर्म कहाँ? परन्तु ऐसा कहने वाले लोग सत्य की गहराई तक नहीं पहुँच पाए हैं, भगवान् महावीर की वाणी का मर्म नहीं समझ पाए हैं। यदि सदाचारी से सदाचारी गृहस्थ जीवन भी ज़हर का प्याला ही होता, 'उनकी अपनी भाषा में कुपात्र ही होता, तो जैन-संस्कृति के प्राण प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर धर्म के दो भेदों में क्यों गृहस्थ धर्म की

गणना करते ? क्यों उच्च सदाचारी गृहस्थों को श्रमण के समान उपमा देते हुए 'समणभूए' कहते ? क्यों उत्तराध्ययन सूत्र के पंचम अध्ययन की वाणी में यह कहा जाता कि कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा संयम की दृष्टि से गृहस्थ श्रेष्ठ है और गृहस्थ दशा में रहते हुए भी साधक सुव्रत हो जाता है। **'संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।'** **'एवं सिक्खासमावन्ने गिहिवासे वि सुव्वए।'** यह ठीक है कि गृहस्थ का धर्म-जीवन क्षुद्र है, साधु का जैसा महान् नहीं है। परन्तु यह क्षुद्रता साधु के महान् जीवन की अपेक्षा से है। दूसरे साधारण भोगासक्ति की दलदल में फँसे संसारी मनुष्यों की अपेक्षा तो एक धर्माचारी सद्-गृहस्थ का जीवन महान् ही है, क्षुद्र नहीं।

प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में श्रावक के सामान्य गुणों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि "श्रावक प्रकृति से गंभीर एवं सौम्य होता है। दान, शील, सरल व्यवहार के द्वारा जनता का प्रेम प्राप्त करता है। पापों से डरने वाला, दयालु, गुणानुरागी, पक्षपात रहित = मध्यस्थ, बड़ों का आदर सत्कार करने वाला, कृतज्ञ = किए उपकार को मानने वाला, परोपकारी एवं हिताहित मार्ग का ज्ञाता दीर्घदर्शी होता है।"

धर्म संग्रह में भी कहा है कि "श्रावक इन्द्रियों का गुलाम नहीं होता, उन्हें वश में रखता है। स्त्री-मोह में पड़कर वह अपना अनासक्त मार्ग नहीं भूलता। महारंभ और महापरिग्रह से दूर रहता है। भयंकर से भयंकर संकटों के आने पर भी सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं होता। लोकरूढ़ि का सहारा लेकर वह भेड़ चाल नहीं अपनाता, अपितु सत्य के प्रकाश में हिताहित का निरीक्षण करता है। श्रेष्ठ एवं दोष-रहित धर्माचरण की साधना में किसी प्रकार की भी लज्जा एवं हिचकिचाहट नहीं करता। अपने पक्ष का मिथ्या आग्रह कभी नहीं करता। परिवार आदि का पालन पोषण करता हुआ भी अन्तर्हृदय से अपने को अलग रखता है, पानी में कमल बनकर रहता है।"

क्या ऊपर के सद्गुणों को देखते हुए कोई भी विचारशील सज्जन गृहस्थ को कुपात्र कह सकता है, उसे ज़हर का लबालब भरा हुआ प्याला बता सकता है? जैन-धर्म में श्रावक को वीतरागदेव श्री तीर्थंकरों का छोटा पुत्र कहा है। क्या भगवान् का छोटा पुत्र होने का महान् गौरव प्राप्त करने के बाद भी वह कुपात्र ही रहता है? क्या आनन्द, कामदेव जैसे देवताओं से भी पथ भ्रष्ट न होने वाले श्रमणोपासक गृहस्थ ज़हर के प्याले थे? यह भ्रान्त धारणा है। गृहस्थ का जीवन भी धर्ममय हो सकता है, वह भी मोक्ष की ओर प्रगति कर सकता है, कर्म बन्धनों को तोड़ सकता है। सद्गृहस्थ संसार में रहता है, परन्तु अनासक्त भाव की ज्योति का प्रकाश अंदर में जगमगाता रहता है। वह कभी-कभी ऐसी दशा में होता है कि कर्म करता हुआ भी कर्मबन्ध नहीं करता है।

महिमा सम्यग् ज्ञान की
अरु विराग बल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतें
कर्म - बंन्ध नहिं होइ॥

—समयसार नाटक, निर्जराद्वार

सूत्रकृतांग सूत्र का दूसरा श्रुतस्कन्ध हमारे सामने है। अविरत, विरत और विरताविरत का कितना सुन्दर विश्लेषण किया गया है। विरताविरत श्रावक की भूमिका है, इसके सम्बन्ध में प्रभु महावीर कहते हैं—'सभी पापाचरणों से कुछ निवृत्ति और कुछ अनिवृत्ति होना ही विरति-अविरति है। परन्तु यह आरम्भ नोआरम्भ का स्थान भी आर्य है तथा सब दुःखों का नाश करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी एकान्त सम्यक् एवं साधु है।'

—'तत्थणं जा सा सव्वतो विरयाविरई, एस ठाणे आरम्भ नो

आरम्भट्ठाणे । एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्ख-प्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू !'

[सूत्रकृतांग २ । २ । ३९]

यह है अनन्तज्ञानी परम वीतराग भगवान् महावीर का निर्णय ! क्या इससे बढ़कर कोई और भी निर्णय प्राप्त करना है ? यदि श्रद्धा का कुछ भी अंश प्राप्त है तो फिर किसी अन्य निर्णय की आवश्यकता नहीं है । यह निर्णय अन्तिम निर्णय है । अब हम व्यर्थ ही चर्चा को लम्बी नहीं करना चाहते ।

आइए, अब कुछ इस बात पर विचार करें कि गृहस्थ दशा में रहते हुए भी इतनी ऊँची भूमिका कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

यह आत्म-देवता अनन्त काल से मिथ्यात्व की अंधकारपूर्ण काल रात्रि में भटकता-भटकता, असत्य की उपासना करता-करता, जब कभी सत्य की विश्वासभूमिका में आता है तो वह उसके लिए स्वर्णप्रभात का सुअवसर होता है । संसाराभिमुख आत्मा जब मोक्षाभिमुख होती है, बहिर्मुख से अन्तर्मुख होती है, अर्थात् विषयाभिमुख से आत्माभिमुख होती है, तब सर्वप्रथम सम्यक्त्वरूप धर्म की दिव्य ज्योति का प्रकाश प्राप्त होता है ।

सच्ची श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है । यह श्रद्धा अन्ध श्रद्धा नहीं है । अपितु यह प्रकाशमान जीवित श्रद्धा है, जिसके प्रकाश में जड़ को जड़ और चैतन्य को चैतन्य समझा जाता है, संसार को संसार और मोक्ष को मोक्ष समझा जाता है और समझा जाता है धर्म को धर्म और अधर्म को अधर्म ! निश्चय दृष्टि में विवेक बुद्धि का जागृत होना ही सम्यक्त्व है, तत्त्वार्थ-श्रद्धान है । अनन्त काल से हम यात्रा तो करते चले आ रहे थे, परन्तु हम को गन्तव्य लक्ष्य स्थिर नहीं हुआ था । यह लक्ष्य का स्थिरीकरण सम्यक्त्व के द्वारा होता है । सम्यक्त्व के अभाव में कितना ही उग्र क्रियाकाण्डी क्यों न हो, वह अन्धा है, सर्व-

था अन्धा ! वह भटकता है, यात्रा नहीं करता। यात्री के लिए अपनी आँखें चाहिए। वह आँख सम्यक्त्व है। इस आँख के बिना आध्यात्मिक जीवन यात्रा तै नहीं की जा सकती।

जब गृहस्थ यह सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त कर लेता है तो कवि की आध्यात्मिक भाषा में भगवान् वीतराग देव का लघु पुत्र हो जाता है। यह पद कुछ कम महत्त्व पूर्ण नहीं है। बड़ी भारी ख्याति है इसकी आध्यात्मिक क्षेत्र में। ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में सम्यक्त्व को रत्न की उपमा दी है। वस्तुतः यह वह चिन्तामणि रत्न है, जिसके द्वारा साधक जो पाना चाहे वह सब पासकता है। अनन्त काल से हीन, दीन, दरिद्र भिखारी के रूप में भटकता हुआ आत्मदेव सम्यक्त्व रत्न पाने के बाद एक महान् आध्यात्मिक धन का स्वामी हो जाता है। सम्यक्त्वी की प्रत्येक क्रिया निराले ढंग की होती है। उसका सोचना, समझना, बोलना और करना सब कुछ विलक्षण होता है। वह संसार में रहता हुआ भी संसार से निर्विण्ण हो जाता है, उसके अन्तर में शम, संवेग, निर्वेद और अनुकम्पा का अमृत सागर ठाठें मारने लगता है। विश्व के अनन्तानन्त चर अचर प्राणियों के प्रति उसके कोमल हृदय से दया का झरना बहता है और वह चाहता है कि संसार के सब जीव सुखी हों, कल्याणभागी हों। सब को आत्मभान हो, संसार से विरक्ति हो ! सम्यक्त्वी का जीवन ही अनुकम्पा का जीवन है। वह विश्व को मंगलमय देखना चाहता है। वीत राग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग प्ररूपित धर्म पर उसका इतना दृढ़ आस्तिक भाव होता है कि यदि संसार भर की दैवी शक्तियाँ डिगाना चाहें तब भी नहीं डिग सकता। भला वह प्रकाश से अन्धकार में जाए तो कैसे जाए ? प्रकाश उस के लिए जीवन है और अन्धकार मृत्यु ! उसकी यात्रा सत्य से असत्य की ओर नहीं, अपितु असत्य से सत्य की ओर है। वह एक महान् भारतीय दार्शनिक के शब्दों में प्रतिपल प्रतिक्षण यही भावना भाता है कि 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

आध्यात्मिक विकासक्रम में सम्यक्त्व की भूमिका चतुर्थ गुणस्थान की है। जब साधक सम्यक्त्व का अजर अमर प्रकाश साथ लेकर आध्यात्मिक यात्रा के लिए अग्रसर होता है तो देशव्रती श्रावक की पंचम भूमिका आती है। यह वह भूमिका है, जहाँ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भाव की मर्यादित साधना प्रारम्भ हो जाती है। सर्वथा न करने से कुछ करना अच्छा है, यह आदर्श है इस भूमिका का ! गृहस्थ का जीवन है, अतः पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का बहुत बड़ा भार है मस्तक पर ! ऐसी स्थिति में सर्वथा परिपूर्ण त्याग का मार्ग तो नहीं अपनाया जा सकता। परन्तु अपनी स्थिति के अनुकूल मर्यादित त्याग तो ग्रहण किया जा सकता है। अस्तु, इस मर्यादित एवं आंशिक त्याग का नाम ही आगम की भाषा में देश-विरति है ! अभी अपूर्ण त्याग है, परन्तु अन्तर्मन में पूर्ण त्याग का लक्ष्य है। इस प्रकार के देशविरति श्रावक के बारह व्रत होते हैं। आगमसाहित्य में बारह व्रतों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। यहाँ इतना अवकाश नहीं है, और प्रसंग भी नहीं है। अतः भविष्य में कहीं अन्यत्र विस्तार की भावना रखते हुए भी यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।

१—अहिंसा व्रत

सर्व प्रथम अहिंसा व्रत है। अहिंसा हमारे आध्यात्मिक जीवन की आधार भूमि है ! भगवान महावीर के शब्दों में 'अहिंसा भगवती है।' इस भगवती की शरण स्वीकार किए बिना साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

अहिंसा की साधना के लिए प्रतिज्ञा लेनी होती है कि 'मैं मन, वचन, काय से किसी भी निरपराध एवं निर्दोष त्रस प्राणी की जान-बूझ कर हिंसा न स्वयं करूँगा और न दूसरे से कराऊँगा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप स्थावर जीवों की हिंसा भी यथाशक्य एवं मर्यादित रूप में न करूँगा और न कराऊँगा।'

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित पाँच कार्यों का त्याग अवश्य करना चाहिए—

(१) जीवों को मारना, पीटना, त्रास देना।

(२) अंग-भंग करना, विरूप एवं अपंग करना।

(३) कठोर बन्धन से बाँधना, या पिंजरे आदि में रखना।

(४) शक्ति से अधिक भार लादना या काम लेना।

(५) समय पर भोजन न देना, भूखा-प्यासा रखना।

२—सत्य व्रत

असत्य का अर्थ है, झूठ बोलना। केवल बोलना ही नहीं, झूठा सोचना और झूठा काम करना भी असत्य है। अनन्तकाल से आत्मा असत्यमय होने के कारण दुःख उठाती आ रही है, क्लेश पाती आ रही है। यदि इस दुःख और क्लेश की परम्परा से मुक्ति पानी है तो असत्य का त्याग करना चाहिए। भगवान् महावीर ने सत्य को भगवान् कहा है। भगवान् सत्य की सेवा में आत्मार्पण किए बिना अखण्ड आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती।

गृहस्थ साधक को सत्य की साधना के लिए प्रतिज्ञा लेनी होती है कि मैं जान बूझ कर झूठी साक्षी आदि के रूप में मोटा झूठ न स्वयं बोलूँगा, और न दूसरों से बुलवाऊँगा।

सत्य व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग करना चाहिए—

(१) दूसरों पर झूठा आरोप लगाना।

(२) दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करना।

(३) पत्नी आदि के साथ विश्वासघात करना।

(४) बुरी या झूठी सलाह देना।

(५) झूठी दस्तावेज बनाना, जालसाजी करना।

३—अचौर्य व्रत

दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार करना चोरी है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुए साधनों से ही पूर्ण करनी चाहिएँ। यदि कभी प्रसंगवश दूसरों से भी कुछ लेना हो तो वह सहयोग पूर्वक मित्रता के भाव से दिया हुआ ही लेना चाहिए। किसी भी प्रकार का बलाभियोग अथवा अनधिकार शक्ति का उपयोग करके कुछ लेना, लेना नहीं है, छीनना है।

गृहस्थ साधक पूर्णरूप से चोरी का त्याग नहीं कर सकता तो कम से कम सेन्ध लगाना, जेब कतरना, डाका डालना इत्यादि सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से सर्वथा अयोग्य चोरी का त्याग तो करना ही चाहिए। अस्तेय व्रत की प्रतिज्ञा है कि मैं स्थूल चोरी न स्वयं करूँगा और न दूसरों से करवाऊँगा।

अस्तेय व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग आवश्यक है—

(१) चोरी का माल खरीदना।
(२) चोरी के लिए सहायता देना।
(३) राष्ट्रविरोधी कार्य करना, कर आदि की चोरी करना।
(४) झूठे तोल-माप रखना।
(५) मिलावट करके अशुद्ध वस्तु बेचना।

४—ब्रह्मचर्य व्रत

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी संभोग क्रिया में भी जैन-धर्म पाप मानता है। ब्रह्मनिष्ठ साधक यह इस कार्य की कभी भी उपेक्षा करने के लिए नहीं कहता। संभोग क्रिया में असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। और काम-वासना स्वतः भी अपने आप में एक पाप है। पर आत्मदर्शिता की एक अशुभ मोहोत्पादक क्रिया है। यदि गृहस्थ पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य धारण नहीं

कर सकता तो उसको यह प्रतिज्ञा तो लेनी ही चाहिए कि 'मैं [1]स्वपत्नी-सन्तोष के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का व्यभिचार न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। अपनी पत्नी के साथ भी अति संभोग नहीं करूँगा।'

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग आवश्यक है—

(१) किसी रखैल के साथ संभोग करना।

(२) परस्त्री, अविवाहिता तथा वेश्या आदि के साथ संभोग करना।

(३) अप्राकृतिक संभोग करना।

(४) दूसरों के विवाह-लग्न कराने में अमर्यादित भाग लेना।

(५) कामभोग की तीव्र आसक्ति रखना, अति संभोग करना।

५—अपरिग्रह व्रत

परिग्रह भी एक बहुत बड़ा पाप है। परिग्रह मानव-समाज की मनोभावना को उत्तरोत्तर दूषित करता जाता है और किसी प्रकार का भी स्वपरहिताहित एवं लाभालाभ का विवेक नहीं रहने देता है। सामाजिक विषमता, संघर्ष, कलह एवं अशान्ति का प्रधान कारण परिग्रहवाद ही है। अतएव स्व और पर की शान्ति के लिए अमर्यादित स्वार्थवृत्ति एवं संग्रह बुद्धि पर नियंत्रण रखना आवश्यक है।

अपरिग्रह व्रत की प्रतिज्ञा के लिए निम्नलिखित वस्तुओं के अति-परिग्रह-त्याग की उचित मर्यादा का निर्धारण करना चाहिए—

(१) मकान, दूकान और खेत आदि की भूमि।

(२) सोना और चाँदी।

(३) नोकर चाकर तथा गाय, भैंस आदि द्विपद चतुष्पद।

(४) मुद्रा, जवाहिरात आदि धन और धान्य।

१—स्त्री को 'स्वपति-सन्तोष' कहना चाहिए।

(५) प्रति दिन के व्यवहार में आने वाली पात्र, शयन, आसन आदि घर की अन्य वस्तुएं।

६—दिग्व्रत

पापाचरण के लिए गमनागमनादि क्षेत्र को विस्तृत करना जैन गृहस्थ के लिए निषिद्ध है। बड़े-बड़े राजा सेनाएँ लेकर दिग्विजय को निकलते हैं और जिधर भी जाते हैं, संहार मचा देते हैं। बड़े-बड़े व्यापारी व्यापार करने के लिए चलते हैं और आस-पास के राष्ट्रों की ग़रीब प्रजा का शोषण कर डालते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने दिग्व्रत का विधान किया है। दिग्व्रत में कर्मक्षेत्र की मर्यादा बाँधी जाती है अर्थात् सीमा निश्चित की जाती है। उस निश्चित सीमा के बाहर जाकर हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का पूर्णरूप से त्याग करना, दिग्व्रत का लक्ष्य है।

७—उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत

जीवन भोग से बँधा हुआ है। अतः जब तक जीवन है, भोग का सर्वथा त्याग तो नहीं किया जा सकता। हाँ, आसक्ति को कम करने के लिए भोग की मर्यादा अवश्य की जा सकती है। अनियंत्रित जीवन विषाक्त हो जाता है। वह न अपने लिए हितकर होता है और न जनता के लिए। न इस लोक के लिए श्रेयस्कर होता है और न परलोक के लिए। अनियंत्रित भोगासक्ति संग्रह-बुद्धि को उत्तेजित करती है। संग्रह-बुद्धि परिग्रह का जाल बुनती है। परिग्रह का जाल ज्यों-ज्यों फैलता जाता है, त्यों-त्यों हिंसा, द्वेष, घृणा, असत्य, चोरी आदि पापों की परम्परा लम्बी होती जाती है। अतएव श्रमण संस्कृति गृहस्थ के लिए भोगासक्ति कम करने और इसके लिए उपभोग परिभोग में आने वाले भोजन, पान, वस्त्र आदि पदार्थों के प्रकार एवं संख्या को मर्यादित करने का विधान करती है। यह मर्यादा एक दो-तीन दिन आदि के रूप में सीमित काल तक या आजीवन के लिए भी की जा सकती है। इस-

व्रत के द्वारा पञ्चम व्रत के रूप में परिमित किए गए परिग्रह को और अधिक परिमित किया जाता है और अहिंसा की भावना को और अधिक विराट एवं प्रबल बनाया जाता है।

यह सप्तम व्रत अयोग्य व्यापारों का निषेध भी करता है। गृहस्थ-जीवन के लिए व्यापार धंधा आवश्यक है। बिना उत्पादन एवं धनार्जन के गृहस्थ की गाड़ी कैसे अग्रसर हो सकती है ? परन्तु व्यापार करते समय यह विचार अवश्य करणीय है कि 'यह व्यापार न्यायोचित है या नहीं ? इसमें अल्पारंभ है या महारंभ ?' अस्तु, महारंभ होने के कारण वन काटना, जंगल में आग लगाना, शराब और विष आदि बेचना, सरोवर तथा नदी आदि को सुखाना आदि कार्य जैन-गृहस्थ के लिए वर्जित हैं।

८—अनर्थ दण्ड विरमण व्रत

मनुष्य यदि अपने जीवन को विवेक शून्य एवं प्रमत्त रखता है तो बिना प्रयोजन भी हिंसा आदि कर बैठता है। मन, वाणी और शरीर को सदा जागृत रखना चाहिए और प्रत्येक क्रिया विवेक युक्त ही करनी चाहिए। अप्राप्त भोगों के लिए मन में लालसा रखना, प्राप्त भोगों की रक्षा के लिए चिन्ता करना, बुरे विचार एवं बुरे संकल्प रखना, पाप-कार्य के लिए परामर्श देना, हाथ और मुख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना, काम भोग-सम्बन्धी वार्तालाप में रस लेना, बात-बात पर अभद्र गाली देने की आदत रखना, निरर्थक हिंसा कारक शस्त्रों का संग्रह करना, आवश्यकता से अधिक व्यर्थ भोग-सामग्री इकट्ठी करना, तेल तथा घी आदि के पात्र बिना ढके खुले मुँह रखना; इत्यादि सब अनर्थ दण्ड हैं। साधक को इन सब अनर्थ दण्डों से निवृत्त रहना चाहिए।

९—सामायिक व्रत

जैन साधना में सामायिक व्रत का बहुत बड़ा महत्त्व है। सामायिक का अर्थ समता है। रागद्वेषवर्द्धक संसारी प्रपंचों से अलग होकर जीवन यात्रा को निष्पाप एवं पवित्र बनाना ही समता है। गृहस्थ

आखिर गृहस्थ है। वह साधु नहीं है, जो यावज्जीवन के लिए सब पाप व्यापारों का पूर्ण रूप से परित्याग कर पवित्र जीवन बिता सके। अतः उसे प्रतिदिन कम-से-कम ४८ मिनट के लिए तो सामायिक व्रत धारण करना ही चाहिए। यद्यपि मुहूर्त भर के लिए पापव्यापारों का त्याग करने रूप सामायिक व्रत का काल अल्प है, तथापि इसके द्वारा अहिंसा एवं समता की विराट झाँकी के दर्शन होते हैं। सामायिक व्रत की साधना करते समय साधारण गृहस्थ साधक भी लगभग पूर्ण निष्पाप जैसी ऊँची भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—'सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।' अर्थात् सामायिक कर लेने पर श्रावक श्रमण-जैसा हो जाता है।

यह गृहस्थ की सामायिक साधु की पूर्ण सामायिक के अभ्यास की भूमिका है। यह दो घड़ी का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन को पाप-मल से हल्का करता है एवं अहिंसा की साधना को स्फूर्तिशील बनाता है। सामायिक के द्वारा किया जाने वाला पापाश्रव-निरोध एवं आत्म-निरीक्षण साधक के लिए वह अमूल्य निधि है, जिसे पाकर आत्मा परमात्मस्वरूप की ओर अग्रसर होता है।

१०—देशावकाशिक व्रत

परिग्रह परिमाण और दिशा परिमाण व्रत की यावज्जीवन सम्बन्धी प्रतिज्ञा को और अधिक व्यापक एवं विराट बनाने के लिए देशावकाशिक व्रत ग्रहण किया जाता है। दिशा-परिमाण व्रत में गमनागमन का क्षेत्र यावज्जीवन के लिए सीमित किया जाता है। और यहाँ उस सीमित क्षेत्र को भी एक दिन-रात के लिए और अधिक सीमित कर लिया जाता है। देशावकाशिक व्रत की साधना में जहाँ क्षेत्र-सीमा संकुचित होती है, वहाँ [illegible] की सीमा भी सीमित होती है। यदि [illegible]

अहिंसा-साधना अधिकाधिक व्यापक होकर आत्म-तत्त्व अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्वच्छ हो जाए।

११—पौषध व्रत

यह व्रत जीवन-संघर्ष की सीमा को और अधिक संक्षिप्त करता है। एक अहोरात्र अर्थात् रात-दिन के लिए सचित्त वस्तुओं का, शस्त्र का, पाप-व्यापार का, भोजन-पान का तथा अब्रह्मचर्य का त्याग करना पौषध व्रत है। पौषध की स्थिति साधुजीवन जैसी है। अतएव पौषध में कुरता, कमीज, कोट आदि गृहस्थोचित वस्त्र नहीं पहने जाते, पलंग आदि पर नहीं सोया जाता और स्नान भी नहीं किया जाता। सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा अलग रह कर एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्म-चिन्तन आदि करते हुए जीवन को पवित्र बनाना ही इस व्रत का उद्देश्य है।

१२—अतिथि-संविभाग व्रत

गृहस्थ जीवन में सर्वथा परिग्रह-रहित नहीं हुआ जा सकता। यहाँ मन में संग्रह बुद्धि बनी रहती है और तदनुसार संग्रह भी होता रहता है। परन्तु यदि उक्त संग्रह और परिग्रह का उपयोग अपने तक ही सीमित रहता है, जनकल्याण में प्रयुक्त नहीं होता है तो वह महा-भयंकर पाप बन जाता है। प्रतिदिन बढ़ते हुए परिग्रह को बढ़े हुए नख की उपमा दी है। बढ़ा हुआ नाखून अपने या दूसरे के शरीर पर जहाँ भी लगेगा, घाव ही करेगा। अतः बुद्धिमान् सभ्य मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह बढ़े हुए नाखून को यथावसर काटता रहे। इसी प्रकार परिग्रह भी मर्यादा से अधिक बढ़ा हुआ अपने को तथा आस-पास के दूसरे साथियों को तंग ही करता है, अशान्ति ही बढ़ाता है। इसलिए, जैन-धर्म परिग्रह-परिमाण में धर्म बताता है और उस

दान, परिग्रह का प्रायश्चित है। प्राप्त वस्तुओं का स्वार्थ बुद्धि से अकेला उपभोग करना, पाप है। गृहस्थ को उक्त पाप से बचना चाहिए।

गृहस्थ के घर का द्वार जन-सेवा के लिए खुला रहना चाहिए। यदि कभी त्यागी साधु-संत पधारें तो भक्ति भाव के साथ उनको योग्य आहार पानी आदि बहराना चाहिए और अपने को धन्य मानना चाहिए। यदि कभी अन्य कोई अतिथि आए तो उसका भी योग्य सत्कार सम्मान करना चाहिए। गृहस्थ के द्वार पर से यदि कोई व्यक्ति भूखा और निराश लौटता है तो वह समर्थ गृहस्थ के लिए पाप है। अतिथि संविभाग व्रत इसी पाप से बचने के लिए है!

यह संक्षेप में जैनगृहस्थ की धर्म साधना का वर्णन है। अधिक विस्तार में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है, अतः संक्षिप्त रूप रेखा बता कर ही सन्तोष कर लिया गया है। धर्म के लिए वर्णन के विस्तार की उतनी आवश्यकता भी नहीं है जितनी कि जीवन में उतारने की आवश्यकता है। धर्म जीवन में उतरने के बाद ही स्व-पर कल्याणकारी होता है। अतएव गृहस्थों का कर्तव्य है कि उक्त कल्याणकारी नियमों को जीवन में उतारें और अहिंसा एवं सत्य के प्रकाश में अपनी मुक्ति-यात्रा का पथ प्रशस्त बनाएं।

: ५ :

श्रमण-धर्म

श्रावक-धर्म से आगे की कोटि साधु-धर्म की है। साधु-धर्म के लिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने आकाश-यात्रा शब्द का प्रयोग किया है। अस्तु, यह साधु-धर्म की यात्रा साधारण यात्रा नहीं है। आकाश में उड़ कर चलना कुछ सहज बात है? और वह आकाश भी कैसा? संयम जीवन की पूर्ण पवित्रता का आकाश। इस जड़ आकाश में तो मक्खी-मच्छर भी उड़ लेते हैं, परन्तु संयम-जीवन की पूर्ण पवित्रता के चैतन्य आकाश में उड़ने वाले विरले ही कर्मवीर मिलते हैं।

साधु होने के लिए केवल बाहर से वेष बदल लेना ही काफी नहीं है, यहाँ तो अन्दर से सारा जीवन ही बदलना पड़ता है, जीवन का समूचा लक्ष्य ही बदलना पड़ता है। यह मार्ग फूलों का नहीं, काँटों का है। नंगे पैरों जलती आग पर चलने जैसा दृश्य है साधु-जीवन का! उत्तराध्ययन सूत्र के १६ वें अध्ययन में कहा है कि—'साधु होना, लोहे के जौ चबाना है, दहकती ज्वालाओं को पीना है, कपड़े के थैले को हवा से भरना है, मेरु पर्वत को तराजू पर रखकर तौलना है, और महा समुद्र को भुजाओं से तैरना है। इतना ही नहीं, तलवार की नग्न धार पर नंगे पैरों चलना है।'

वस्तुतः साधु-जीवन इतना ही उग्र जीवन है। वीर, धीर, गम्भीर, एवं साहसी साधक ही इस दुर्गम पथ पर चल सकते हैं—'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।' जो लोग कायर

हैं, साहसहीन हैं, वासनाओं के गुलाम हैं, इन्द्रियों के चक्कर में हैं, और दिन-रात इच्छाओं की लहरों के थपेड़े खाते रहते हैं, वे भला क्यों कर इस क्षुर-धारा के दुर्गम पथ पर चल सकते हैं ?

साधु-जीवन के लिए भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में कहा है—"साधु को ममतारहित, निरहंकार, निःसंग, नम्र और प्राणिमात्र पर समभावयुक्त रहना चाहिए। लाभ हो या हानि हो, सुख हो या दुःख हो, जीवन हो या मरण हो, निन्दा हो या प्रशंसा हो, मान हो या अपमान हो, सर्वत्र सम रहना ही साधुता है। सच्चा साधु न इस लोक में कुछ आसक्ति रखता है और न परलोक में। यदि कोई विरोधी तेज कुल्हाड़े से काटता है या कोई भक्त शीतल एवं सुगन्धित चन्दन का लेप लगाता है, साधु को दोनों पर एक जैसा ही समभाव रखना होता है। वह कैसा साधु, जो क्षण-क्षणमें राग-द्वेष की लहरों में बह निकले। न भूख पर नियंत्रण रख सके और न भोजन पर।"

निम्ममो निरहंकारो,
निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु,
तसेसु थावरेसु य॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे,
जीविए मरणे तहा।
समो निंदा-पसंसासु,
समो माणावमाणओ॥
अणिस्सिओ इहं लोए,
परलोए अणिस्सिओ।
वासी-चंदणकप्पो य,
असणे अणसणे तहा॥

—उत्तरा० १९, ८९ ९०, ९२

भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार साधु-जीवन न राग का जीवन है और न द्वेष का। वह तो पूर्णरूपेण समभाव एवं तटस्थ वृत्ति का जीवन है। साधु विश्व के लिए कल्याण एवं मङ्गल की जीवित मूर्ति है। वह अपने हृदय के कण-कण में सत्य और करुणा का अपार अमृतसागर लिए भूमण्डल पर विचरण करता है, प्राणिमात्र को विश्वमैत्री का अमर सन्देश देता है। वह समता के ऊँचे से ऊँचे आदर्शों पर विचरण करता है, अपने मन, वाणी एवं शरीर पर कठोर नियंत्रण रखता है। संसार की समस्त भोग वासनाओं से सर्वथा अलिप्त रहता है, और क्रोध, मान, माया एवं लोभ की दुर्गन्ध से हजार-हजार कोस की दूरी से बचकर चलता है।

देवाधिदेव श्रमण भगवान् महावीर ने उपर्युक्त पूर्ण त्याग मार्ग पर चलने वाले साधुओं को मेरु पर्वत के समान अप्रकंप, समुद्र के समान गम्भीर, चन्द्रमा के समान शीतल, सूर्य के समान तेजस्वी और पृथ्वी के समान सर्वसह कहा है। सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्धान्तर्गत दूसरे क्रिया स्थान नामक अध्ययन में साधु-जीवन सम्बन्धी उपमाओं की यह लम्बी शृंखला, आज भी हर कोई जिज्ञासु देख सकता है। इसी अध्ययन के अन्त में भगवान् ने साधु जीवन को एकान्त पण्डित, आर्य; एकान्तसम्यक्, सुसाधु एवं सब दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताया है। **'एस ठाणे आयरिए जाव सव्वदुक्खपहीण मग्गे एगंतसम्मे सुसाहू।'**

भगवती-सूत्र में पाँच प्रकार के देवों का वर्णन है। वहाँ भगवान् महावीर ने गौतम गणधर के प्रश्न का समाधान करते हुए साधुओं को साक्षात् भगवान् एवं धर्मदेव कहा है। वस्तुतः साधु, धर्म का जीता-जागता देवता ही है। **'गोयमा ! जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया....जाव गुत्तबंभयारी, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ धम्मदेवा।'**

—भग० १२ श० ९ उ०।

भगवती-सूत्र के १४ वें शतक में भगवान् महावीर ने साधुजीवन के अध्यात्म आनन्द का उपमा के द्वारा एक बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। गणधर गौतम को सम्बोधित करते हुए भगवान् कह रहे हैं—"हे गौतम! एक मास की दीक्षा वाला श्रमण निर्ग्रन्थ वानव्यन्तर देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। दो मास की दीक्षा वाला नागकुमार आदि भवनवासी देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा वाला असुरकुमार देवों के सुख को, चार मास की दीक्षा वाला ग्रह, नक्षत्र एवं ताराओं के सुख को, पाँच मास की दीक्षा वाला ज्योतिष्क देव जाति के इन्द्र चन्द्र एवं सूर्य के सुख को, छः मास की दीक्षा वाला सौधर्म एवं ईशान देवलोक के सुख को, सात मास की दीक्षा वाला सनत्कुमार एवं माहेन्द्र देवों के सुख को, आठ मास की दीक्षा वाला ब्रह्मलोक एवं लान्तक देवों के सुख को, नवमास की दीक्षा वाला आनत एवं प्राणत देवों के सुख को, दश मास की दीक्षा वाला आरण एवं अच्युत देवों के सुख को, ग्यारह मास की दीक्षा वाला नव ग्रैवेयक देवों के सुख को तथा बारह मास की दीक्षा वाला श्रमण अनुत्तरौपपातिक देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है।"

—भग० १४, ९।

पाठक देख सकते हैं—भगवान् महावीर की दृष्टि में साधुजीवन का कितना ऊँचा आनन्द है! बारह महीने की कोई विशिष्ट साधना होती है? परन्तु यह [illegible] की साधना भी यदि सच्चे हृदय से की जाय तो उसका आनन्द [illegible] कि सर्वार्थ सुख [illegible] से [illegible] अनुत्तरौपपातिक देव भी इसके [illegible] [illegible]

आपा मार जगत में बैठे नहिं किसी से काम,
उनमें तो कुछ अन्तर नाहीं, संत कहो चाहे राम,
हम तो उन संतन के हैं दास,
जिन्होंने मन मार लिया।

सन्त कबीर ने भी साधु को प्रत्यक्ष भगवान रूप कहा है और कहा है कि साधु की देह निराकार की आरसी है, जिसमें जो चाहे वह अलख को अपनी आँखों से देख सकता है।

निराकार की आरसी, साधू ही की देह,
लखा जो चाहे अलख को, इनही में लखि लेह।

सिक्ख-सम्प्रदाय के गुरु अर्जुन देव ने कहा है कि साधु की महिमा का कुछ अन्त ही नहीं है, सचमुच वह अनन्त है। बेचारा वेद भी उसकी महिमा का क्या वर्णन कर सकता है।

साधु की महिमा वेद न जानें,
जेता सुनै तेता वखानें।
साधु की सोभा का नहिं अंत,
साधु की सोभा सदा वे-अंत।

आनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्री कृष्णचन्द्र ने भागवत में कहा है—सन्त ही मनुष्यों के लिए देवता हैं। वे ही उनके परम बान्धव हैं। सन्त ही उनकी आत्मा हैं। बल्कि यह भी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि सन्त मेरे ही स्वरूप हैं, अर्थात् भगवत्स्वरूप हैं।

देवता बान्धवाः सन्तः,
सन्त आत्माऽहमेव च।

—भाग. ११ । २६ । ३४ ।

जैन-धर्म में साधु का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक-विकास क्रम में उसका स्थान छठा गुण स्थान है, और यहाँ से यदि

निरन्तर ऊर्ध्वमुखी विकास करता रहे तो अन्त में वह चौदहवें गुण-स्थान की भूमिका पर पहुँच जाता है और फिर सदा काल के लिए अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो जाता है। जैन-साहित्य में साधु-जीवन सम्बन्धी आचार-विचार का बड़े विस्तार के साथ वर्णन कि[illegible] गया है। ऐसा सूक्ष्म एवं नियम-बद्ध वर्णन अन्यत्र मिलना असंभव है। यही कारण है कि आज के युग में जहाँ दूसरे संप्रदाय के साधुओं क[illegible] नैतिक पतन हो गया है, किसी प्रकार का संयम ही नहीं रहा है, वहाँ जैन-साधु अब भी अपने संयम-पथ पर चल रहा है। आज भी उसके संयम-जीवन की झाँकी के दृश्य आचारांग, सूत्र कृतांग एवं दशवैका-लिक आदि सूत्रों में देखे जा सकते हैं। हजारों वर्ष पुरानी परंपरा को निभाने में जितनी दृढ़ता जैन-साधु दिखा रहा है, उसके लिए जैन-सूत्रों का नियमबद्ध वर्णन ही धन्यवादार्ह है।

आगम-साहित्य में जैन-साधु की नियमोपनियम सम्बन्धी जीवन-चर्या का अतीव विराट एवं तलस्पर्शी वर्णन है। विशेष जिज्ञासुओं को उसी आगम-साहित्य से अपना पवित्र सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। यहाँ इस अंश में पाँच महाव्रतों का परिचय मात्र दे रहे हैं। आशा है, यह प्रयास कुछ अंश तक भी पाठकों की ज्ञान-वृद्धि एवं मनन-चिन्तना में सहायक हो सकेगा।

अहिंसा महाव्रत

मन, वाणी एवं शरीर से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय आदि की दूषित मनोवृत्तियों के साथ किसी भी प्राणी को शारीरिक एवं मान-सिक आदि किसी भी प्रकार की पीड़ा या हानि पहुँचाना, हिंसा है।

१—[illegible]
[illegible]।
[illegible]
[illegible]॥
—[illegible]

केवल पीड़ा और हानि पहुँचाना ही नहीं, उसके लिए किसी भी तरह की अनुमति देना भी हिंसा है। किं बहुना, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाना हिंसा है। इस हिंसा से बचना अहिंसा है।

अहिंसा और हिंसा की आधार-भूमि अधिकतर भावना पर आधारित है। मन में हिंसा है तो बाहर में हिंसा हो तब भी हिंसा है, और हिंसा न हो तब भी हिंसा है। और यदि मन पवित्र है, उपयोग एवं विवेक के साथ प्रवृत्ति है तो बाहर में हिंसा होते हुए भी अहिंसा है। मन में द्वेष न हो, घृणा न हो, अपकार की भावना न हो, अपितु प्रेम हो, करुणा की भावना हो, कल्याण का संकल्प हो तो शिक्षार्थ उचित ताड़ना देना, रोग-निवारणार्थ कटु

—महापुरुषों द्वारा आचरण में लाए गए हैं, महान् अर्थ मोक्ष का प्रसाधन करते हैं, और स्वयं भी व्रतों में सर्व महान् हैं, अतः मुनि के अहिंसा आदि व्रत महाव्रत कहे जाते हैं।

योग-दर्शन के साधन-पाद में महाव्रत की व्याख्या के लिए ३१ वाँ सूत्र है—'**जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना महाव्रतम्।**' इसका भावार्थ है—जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं।

जाति द्वारा संकुचित—गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मण की हिंसा न करना।

देश द्वारा संकुचित—गंगा, हरिद्वार आदि तीर्थ-भूमि में हिंसा न करना।

काल द्वारा संकुचित—एकादशी, चतुर्दशी आदि तिथियों में हिंसा नहीं करना।

समय द्वारा संकुचित—देवता अथवा ब्राह्मण आदि के प्रयोजन की सिद्धि के लिए हिंसा करना, अन्य प्रयोजन से नहीं। समय का अर्थ यहाँ प्रयोजन है।

इस प्रकार की संकीर्णता से रहित सब जातियों के लिए सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा अहिंसा, सत्य आदि पालन करना महाव्रत है।

औषधि देना सुधारार्थ या प्रायश्चित्त के लिए दण्ड देना हिंसा नहीं है। परन्तु जब ये ही द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह एवं भय आदि की दूषित वृत्तियों से मिश्रित हों तो हिंसा हो जाती है। मन में किसी भी प्रकार का दूषित भाव लाना हिंसा है। यह दूषित भाव अपने मन में हो, अथवा संकल्प पूर्वक अपने निमित्त से किसी दूसरे के मन में पैदा किया हो, सर्वत्र हिंसा है। इस हिंसा से बचना प्रत्येक साधक का परम कर्तव्य है।

जैन-साधु अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ साधक है। वह मन, वाणी और शरीर में से हिंसा के तत्त्वों को निकाल कर बाहर फेंकता है, और जीवन के कण-कण में अहिंसा के अमृत का संचार करता है। उसका चिन्तन करुणा से ओत-प्रोत होता है, उसका भाषण दया का रस बरसाता है, उसकी प्रत्येक शारीरिक प्रवृत्ति में अहिंसा की झनकार निकलती है। वह अहिंसा का देवता है। अहिंसा भगवती उसके लिए [1]ब्रह्म के समान उपास्य है। हिंस्य और हिंसक दोनों के कल्याण के लिए ही वह हिंसा से निवृत्ति करता है, अहिंसा का प्रण लेता है। सब काल में सब प्रकार से सब प्राणियों के प्रति चित्त में अणुमात्र भी द्रोह न करना ही अहिंसा का सच्चा स्वरूप है। और इस स्वरूप को जैन-साधु न दिन में भूलता है और न रात में, न जागते में भूलता है और न सोते में, न एकान्त में भूलता है और न जन समूह में।

जैन-श्रमण की अहिंसा, व्रत नहीं, महाव्रत है। महाव्रत का अर्थ है महान् व्रत, महान् प्रण। उक्त महाव्रत के लिए भगवान् महावीर 'सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ है मन वचन और कर्म से न स्वयं हिंसा करना, न दूसरों से करवाना और न हिंसा करने वाले दूसरे लोगों का अनुमोदन ही करना। अहिंसा का यह कितना ऊँचा आदर्श है! हिंसा को प्रवेश करने के लिए

१—'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्'

—आचार्य समन्तभद्र

कहीं छिद्रमात्र भी नहीं रहा है। हिंसा तो क्या, हिंसा की गन्ध भी प्रवेश नहीं पा सकती।

एक जैनाचार्य ने बालजीवों को अहिंसा का मर्म समझाने के लिए प्रथम महाव्रत के ८१ भंग वर्णन किये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय—ये नौ प्रकार के संसारी जीव हैं। उनकी न मन से हिंसा करना, न मन से हिंसा कराना, न मन से हिंसा का अनुमोदन करना। इस प्रकार २७ भंग होते हैं। जो बात मन के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात वचन और शरीर के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिये। हाँ, तो मन के २७, वचन के २७, और शरीर के २७, सब मिल कर ८१ भंग हो जाते हैं।

जैन साधु की अहिंसा का यह एक संक्षिप्त एवं लघुतम वर्णन है। परन्तु यह वर्णन भी कितना महान् और विराट है! इसी वर्णन के आधार पर जैन साधु न कच्चा जल पीता है, न अग्नि का स्पर्श करता है, न सचित्त वनस्पति का ही कुछ उपयोग करता है। भूमि पर चलता है तो नंगे पैरों चलता है, और आगे साढ़े तीन हाथ परिमाण भूमि को देखकर फिर कदम उठाता है। मुख के उष्ण श्वास से भी किसी वायु आदि सूक्ष्म जीव को पीड़ा न पहुँचे, इस के लिए मुख पर मुखवस्त्रिका का प्रयोग करता है। जन साधारण इस क्रिया काण्ड में एक विचित्र अटपटेपन की अनुभूति　　ा है। परन्तु अहिंसा के साधक को इस में अहिंसा भगवती के सूक्ष्म रूप की झाँकी मिलती है।

सत्य महाव्रत

वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उक्त सत्य का शरीर से काम में लाना शरीर का सत्य है, वाणी से कहना वाणी का सत्य है, और विचार में लाना मन का सत्य है। जो जिस समय जिसके लिए जैसा यथार्थ रूप से करना, कहना एवं समझना चाहिए, वही सत्य है। इनके विपरीत जो भी सोचना, समझना, कहना और करना है, वह असत्य है।

सत्य, अहिंसा का ही विराट रूपान्तर है। सत्य का व्यवहार केवल वाणी से ही नहीं होता है, जैसा कि सर्व-साधारण जनता समझती है। उसका मूल उद्गम-स्थान मन है। अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना ही सत्य है। अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, जैसा अनुमान किया हो, वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना, सत्य है। वाणी के सम्बन्ध में यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल सत्य कह देना ही सत्य नहीं है, अपितु सत्य कोमल एवं मधुर भी होना चाहिए। सत्य के लिए अहिंसा मूल है। अतः यथार्थ ज्ञान के द्वारा यथार्थ रूप में अहिंसा के लिए जो कुछ विचारना, कहना एवं करना है, वही सत्य है। दूसरे व्यक्ति को अपने बोध के अनुसार ज्ञान कराने के लिए प्रयुक्त हुई वाणी धोखा देने वाली और भ्रान्ति में डालने वाली न हो; जिससे किसी प्राणी को पीड़ा तथा हानि न हो, प्रत्युत सब प्राणियों के उपकार के लिए हो, वही श्रेष्ठ सत्य है। जिस वाणी में प्राणियों का हित न हो, प्रत्युत प्राणियों का नाश हो तो वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति द्वेष से दिल दुखाने के लिए अंधे को तिरस्कार के साथ अन्धा कहता है तो यह असत्य है; क्योंकि यह एक हिंसा है। और जहाँ हिंसा है, वह सत्य भी असत्य है; क्योंकि हिंसा सदा असत्य है। कुछ अविवेकी पुरुष दूसरों के हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले दुर्वचन कहने में ही अपने सत्यवादी होने का गर्व करते हैं, उन्हें ऊपर के विवेचन पर ध्यान देना चाहिए।

जैन-श्रमण सत्यव्रत का पूर्णरूपेण पालन करता है, अतः उसका सत्य व्रत सत्य महाव्रत कहलाता है। वह मन, वचन और शरीर से न स्वयं असत्य का आचरण करता है, न दूसरे से करवाता है, और न कभी असत्य का अनुमोदन ही करता है। इतना ही नहीं, किसी तरह का सावद्य वचन भी नहीं बोलता है। पापकारी वचन बोलना भी असत्य ही है। अधिक बोलने में असत्य की आशंका रहती है, अतः

जैन-श्रमण अत्यन्त मितभाषी होता है। उसके प्रत्येक वचन से स्व-पर-कल्याण की भावना टपकती है, अहिंसा का स्वर गूँजता है। जैन-साधु के लिए हँसी में भी झूठ बोलना निषिद्ध है। प्राणों पर संकट उपस्थित होने पर भी सत्य का आश्रय नहीं छोड़ा जा सकता। सत्य महाव्रती की वाणी में अविचार, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ, परिहास आदि किसी भी विकार का अंश नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि साधु दूर से पशु आदि को लैंगिक दृष्टि से अनिश्चय होने पर सहसा कुत्ता, बैल, पुरुष आदि के रूप में निश्चयकारी भाषा नहीं बोलता। ऐसे प्रसंगों पर वह कुत्ते की जाति, बैल की जाति, मनुष्य की जाति, इत्यादि जातिपरक भाषा का प्रयोग करता है। इसी प्रकार वह ज्योतिष, मंत्र, तंत्र आदि का भी उपयोग नहीं करता। ज्योतिष आदि की प्ररूपणा में भी हिंसा एवं असत्य का संमिश्रण है।

जैन-साधु जब भी बोलता है, अनेकान्तवाद को ध्यान में रखकर बोलता है। वह 'ही' का नहीं, 'भी' का प्रयोग करता है। अनेकान्तवाद का लक्ष्य रखे बिना सत्य की वास्तविक उपासना भी नहीं हो सकती। जिस वचन के पीछे 'स्यात्' लग जाता है, वह असत्य भी सत्य हो जाता है। क्योंकि एकान्त असत्य है, और अनेकान्त सत्य। स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक है, अतः यह एकान्त को अनेकान्त बनाता है, दूसरे शब्दों में कहें तो असत्य को सत्य बनाता है। आचार्य सिद्धसेन की दार्शनिक एवं आलंकारिक वाणी में यह स्यात् वह अमोघ स्वर्णरस है, जो लोहे को सोना बना देता है। **'नयास्तव स्यात्पदलाञ्छिता इमे, रसोपदिग्धा इव लोहधातवः।'**

एक आचार्य सत्य महाव्रत के ३६ भंगों का निरूपण करते हैं। क्रोध, लोभ, भय और हास्य इन चार कारणों से झूठ बोला जाता है। अस्तु, उक्त चार कारणों से न स्वयं मन से असत्याचरण करना, न मन से दूसरों से कराना, न मन से अनुमोदन करना, इस प्रकार मनो-

योग के १२ भंग हो जाते हैं। इसी प्रकार वचन के १२ और शरीर १२, सब मिलकर सत्य महाव्रत के ३६ भंग होते हैं।

अचौर्य महाव्रत

अचौर्य, अस्तेय एवं अदत्तादानविरमण सब एकार्थक हैं। अचौर्य, अहिंसा और सत्य का ही विराट रूप है। केवल छिपकर या बलात्कार-पूर्वक किसी व्यक्ति की वस्तु एवं धन का हरण कर लेना ही स्तेय नहीं है, जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। अन्यायपूर्वक किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का अधिकार हरण करना भी चोरी है। जैन-धर्म का यदि सूक्ष्म निरीक्षण करें तो मालूम होगा कि भूख से तंग आकर उदरपूर्ति के लिए चोरी करने वाले निर्धन एवं असहाय व्यक्ति स्तेय पाप के उतने अधिक अपराधी नहीं हैं जितने कि निम्न श्रेणी के बड़े माने जाने वाले लोग।

(१) अत्याचारी राजा या नेता, जो अपनी प्रजा के न्यायप्राप्त राज-नीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों का अपहरण करता है।

(२) अपने को धर्म का ठेकेदार समझने वाले संकीर्ण-हृदय, समृद्धिशाली, ऊँची जाति के सवर्ण लोग; भ्रान्तिवश जो नीची जाति के कहे जाने वाले निर्धन लोगों के धार्मिक, सामाजिक तथा नागरिक अधिकारों का अपहरण करते हैं।

(३) लोभी जमींदार, जो गरीब किसानों का शोषण करते हैं, उन पर अत्याचार करते हैं।

(४) मिल और फैक्ट्रियों के लोभी मालिक, जो मज़दूरों को पेट-भर अन्न न देकर सबका सब नफ़ा स्वयं हड़प जाते हैं।

(५) लोभी साहूकार, जो दूना-तिगुना सूद लेते हैं और ग़रीब लोगों की जायदाद आदि अपने अधिकार में लाने के लिए सदा सचिन्त रहते हैं।

(६) धूर्त व्यापारी, जो वस्तुओं में मिलावट करते हैं, उचित मूल्य से ज़्यादा दाम लेते हैं, और कम तोलते हैं।

(७) घूँसखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारी गण; जो वेतन पाते हुए भी अपने कर्तव्य-पालन में प्रमाद करते हैं और रिश्वत लेते हैं।

(८) लोभी वकील, जो केवल फीस के लोभ से झूठे मुकद्मे लड़ाते हैं औ जानते हुए भी निरपराध लोगों को दण्ड दिलाते हैं।

(६) लोभी वैद्य, जो रोगी का ध्यान न रखकर केवल फीस का लोभ रखते हैं और ठीक औषधि नहीं देते हैं।

(१०) वे सब लोग, जो अन्याय पूर्वक किसी भी अनुचित रीति से किसी व्यक्ति का धन, वस्तु, समय, श्रम और शक्ति का अपहरण एवं अपव्यय करते हैं।

अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य व्रत की साधना करने वालों को उक्त सब पाप व्यापारों से बचना है, अत्यन्त सावधानी से बचना है। ज़रा-सा भी यदि कहीं चोरी का छेद होगा तो आत्मा का पतन अवश्यंभावी है। जैन-गृहस्थ भी इस प्रकार की चोरी से बचकर रहता है, और जैन-श्रमण तो पूर्णरूप से चोरी का त्यागी होता ही है। वह मन, वचन और कर्म से न स्वयं किसी प्रकार की चोरी करता है, न दूसरों से करवाता है, और न चोरी का अनुमोदन ही करता है। और तो क्या, वह दाँत कुरेदने के लिये तिनका भी बिना आज्ञा ग्रहण नहीं कर सकता है। यदि साधु कहीं जंगल में हो, वहाँ तृण, कंकर, पत्थर अथवा वृक्ष के नीचे छाया में बैठने और कहीं शौच जाने की आवश्यकता हो तो शास्त्रोक्त विधि के अनुसार उसे इन्द्रदेव की ही आज्ञा लेनी होती है। अभिप्राय यह है कि बिना आज्ञा के कोई भी वस्तु न ग्रहण की जा सकती है और न उसका क्षणिक उपयोग ही किया जा सकता है। पाठक इसके लिए अत्युक्ति का भ्रम करते होंगे। परन्तु साधक को इस रूप में व्रत पालन के लिए सतत जागृत रहने की स्फूर्ति मिलती

है। व्रतपालन के क्षेत्र में तनिक सा शैथिल्य (ढील) किसी भी भारी अनर्थ का कारण बन सकता है। आप लोगों ने देखा होगा कि तम्बू की प्रत्येक रस्सी खूँटे से कस कर बाँधी जाती है। किसी एक के भी थोड़ी सी ढीली रह जाने से तम्बू में पानी आ जाने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्तु, अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए साधु को बार-बार आज्ञा ग्रहण करने का अभ्यास रखना चाहिए। गृहस्थ से जो भी चीज ले, आज्ञा से ले। जितने काल के लिए ले, उतनी देर ही रक्खे, अधिक नहीं। गृहस्थ आज्ञा भी देने को तैयार हो, परन्तु वस्तु यदि साधु के ग्रहण करने के योग्य न हो तो न ले। क्योंकि ऐसी वस्तु लेने से देवाधि-देव तीर्थंकर भगवान की चोरी होती है। गृहस्थ आज्ञा देने वाला हो, वस्तु भी शुद्ध हो, परन्तु गुरुदेव की आज्ञा न हो तो फिर भी ग्रहण न करे। क्योंकि शास्त्रानुसार यह गुरु अदत्त है, अर्थात् गुरु की चोरी है।

एक आचार्य तीसरे अचौर्य महाव्रत के ५४ भंगों का निरूपण करते हैं। अल्प = थोड़ी वस्तु, बहु = अधिक वस्तु, अणु = छोटी वस्तु, स्थूल = स्थूल वस्तु, सचित्त = शिष्य आदि, अचित्त = वस्त्र पात्र आदि। उक्त छः प्रकार की वस्तुओं की न स्वयं मन से चोरी करे, न मन से चोरी कराए, न मन से अनुमोदन करे। ये मन के १८ भंग हुए। इसी प्रकार वचन के १८, और शरीर के १८, सब मिलकर ५४ भंग होते हैं। अचौर्य महाव्रत के साधक को उक्त सब भंगों का दृढ़ता से पालन करना होता है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

ब्रह्मचर्य अपने आप में एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति है। शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक आदि सभी ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं। ब्रह्मचर्य वह आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, जिसके द्वारा मानव-समाज पूर्ण सुख और शान्ति को प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्य की महत्ता के सम्बन्ध में भगवान् महावीर कहते हैं कि देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी दैवी शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरणों में प्रणाम करती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्य की साधना बड़ी ही कठोर साधना है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वस्तुतः वे एक बहुत बड़ा दुष्कर कार्य करते हैं—

देव-दाणव-गंधव्वा,
जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति,
दुक्करं जे करेंति ते॥

—उत्तराध्ययन-सूत्र

भगवान महावीर की उपर्युक्त वाणी को आचार्य श्री शुभचन्द्र भी प्रकारान्तर से दुहरा रहे हैं—

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं,
ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये।
यद्-विशुद्धिं समापन्नाः,
पूज्यन्ते पूजितैरपि॥

—ज्ञानार्णव

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोकना होता है। यह वेग बड़ा ही भयंकर है। जब आता है तो बड़ी से बड़ी शक्तियाँ भी लाचार हो जाती हैं। मनुष्य जब वासना के हाथ का खिलौना बनता है तो बड़ी दयनीय स्थिति में पहुँच जाता है। वह अपनेपन का कुछ भी भान नहीं रखता, एक प्रकार से पागल-सा हो जाता है। धन्य हैं वे महापुरुष, जो इस वेग पर नियंत्रण रखते हैं और मन को अपना दास बना कर रखते हैं। महाभारत में व्यास की वाणी है कि—
'जो पुरुष वाणी के वेग को, मन के वेग को, क्रोध के वेग को, काम

करने की इच्छा के वेग को, उदर के वेग को, उपस्थ (कामवासना) के वेग को रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ।'

वाचो वेगं, मनसः क्रोध-वेगं,
विधित्सा-वेगमुदरोपस्थ-वेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णांस्
तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥

(महा० शान्ति० २६६।१४)

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग में वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखना ही नहीं है। ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत व्यापक क्षेत्र है। अतः उपस्थेन्द्रिय के संयम के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों का निरोध करना भी आवश्यक है। वह जितेन्द्रिय साधक ही पूर्ण ब्रह्मचर्य पाल सकता है, जो ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले उत्तेजक पदार्थों के खाने, कामोद्दीपक दृश्यों के देखने, और इस प्रकार की वार्ताओं के सुनने तथा ऐसे गन्दे विचारों को मन में लाने से भी बचता है।

आचार्य शुभचन्द्र ब्रह्मचर्य की साधना के लिए निम्नलिखित दश प्रकार के मैथुन से विरत होने का उपदेश देते हैं—

(१) शरीर का अनुचित संस्कार अर्थात् कामोत्तेजक शृङ्गार आदि करना।
(२) पौष्टिक एवं उत्तेजक रसों का सेवन करना।
(३) वासनामय नृत्य और गीत आदि देखना, सुनना।
(४) स्त्री के साथ संसर्ग=घनिष्ठ परिचय रखना।
(५) स्त्री सम्बन्धी संकल्प रखना।
(६) स्त्री के मुख, स्तन आदि अंग-उपांग देखना।
(७) स्त्री के अंग दर्शन सम्बन्धी संस्कार मन में रखना।
(८) पूर्व भोगे हुए काम भोगों का स्मरण करना।

(९) भविष्य के काम भोगों की चिन्ता करना ।

(१०) परस्पर रतिकर्म अर्थात् सम्भोग करना ।

जैन भिक्षु उक्त सब प्रकार के मैथुनों का पूर्ण त्यागी होता है। वह मन, वचन और शरीर से न स्वयं मैथुन का सेवन करता है, न दूसरों से सेवन करवाता है, और न अनुमोदन ही करता है। जैन भिक्षु एक दिन की जन्मी हुई बच्ची का भी स्पर्श नहीं कर सकता। उस के स्थान पर रात्रि को कोई भी स्त्री नहीं रह सकती। भिक्षु की माता और बहन को भी रात्रि में रहने का अधिकार नहीं है। जिस मकान में स्त्री के चित्र हों उसमें भी भिक्षु नहीं रह सकता है। यही बात साध्वी के लिए पुरुषों के सम्बन्ध में है।

एक आचार्य चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत के २७ भंग बतलाते हैं। देवता सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी और तिर्यञ्च-सम्बन्धी तीन प्रकार का मैथुन है। उक्त तीन प्रकार का मैथुन न मन से सेवन करना, न मन से सेवन करवाना, न मन से अनुमोदन करना, ये मनः सम्बन्धी ९ भंग होते हैं। इसी प्रकार वचन के ९, और शरीर के ९, सब मिलकर २७ भंग होते हैं। महाव्रती साधक को उक्त सभी भंगों का निरतिचार पालन करना होता है।

अपरिग्रह महाव्रत

धन, सम्पत्ति, भोग-सामग्री आदि किसी भी प्रकार की वस्तुओं का ममत्व-मूलक संग्रह करना परिग्रह है। जब मनुष्य अपने ही भोग के लिए स्वार्थ-बुद्धि से आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो यह परिग्रह बहुत ही भयंकर हो उठता है। आवश्यकता की यह परिभाषा है कि आवश्यक वह वस्तु है, जिसके बिना मनुष्य की जीवन यात्रा, सामाजिक मर्यादा एवं धार्मिक क्रिया निर्विघ्नता-पूर्वक न चल सके। अर्थात् जो सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान में साधन-रूप से आवश्यक हो। जो गृहस्थ इस नीति मार्ग पर चलते हैं, वे तो स्वयं भी सुखी

रहते हैं और जनता में भी सुख का प्रवाह बहाते हैं। परन्तु जब उक्त व्रत का यथार्थ रूप से पालन नहीं होता है तो समाज में बड़ा भयंकर हाहाकार मचजाता है। आज समाज की जो दयनीय दशा है, उसके मूल में यही आवश्यकता से अधिक संग्रह का विष रहा हुआ है। आज मानव-समाज में जीवनोपयोगी सामग्री का उचित पद्धति से वितरण नहीं है। किसी के पास सैकड़ों मकान खाली पड़े हुए हैं तो किसी के पास रात में सोने के लिए एक छोटी-सी झोंपड़ी भी नहीं हैं। किसी के पास अन्न के सैकड़ों कोठे भरे हुए हैं तो कोई दाने-दाने के लिए तरसता भूखा मर रहा है। किसी के पास संदूकों में बंद सैकड़ों तरह के वस्त्र सड़ रहे हैं तो किसी के पास तन ढाँपने के लिए भी कुछ नहीं है। आज की सुख सुविधाएँ मुट्ठी भर लोगों के पास एकत्र हो गई हैं और शेष समाज अभाव से ग्रस्त है। न उसकी भौतिक उन्नति ही हो रही है और न आध्यात्मिक। सब ओर भुखमरी की महामारी जनता का सर्व ग्रास करने के लिए मुँह फैलाए हुए है। यदि प्रत्येक मनुष्य के पास केवल उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही सुख-सुविधा की साधन-सामग्री रहे तो कोई मनुष्य भूखा, गृहहीन एवं असहाय न रहे। भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद ही मानव जाति का कल्याण कर सकता है, भूखी जनता के आँसू पोंछ सकता है।

भगवान् महावीर ने गृहस्थों के लिए मर्यादित अपरिग्रह का विधान किया है, परन्तु भिक्षु के लिए पूर्ण अपरिग्रही होने का। भिक्षु का जीवन एक उत्कृष्ट धर्म जीवन है, अतः वह भी यदि परिग्रह के जाल में फँसा रहे तो क्या खाक धर्म की साधना करेगा? फिर गृहस्थ और भिक्षु में अन्तर ही क्या रहेगा?

जैन धर्म ग्रन्थों में परिग्रह के निम्न लिखित नौ भेद किए हैं। गृहस्थ के लिए इनकी अमुक मर्यादा करने का विधान है और भिक्षु के लिए पूर्ण रूप से त्याग करने का।

(१) क्षेत्र—जंगल में खेती-बाड़ी के उपयोग में आने वाली धान्य-

भूमि को क्षेत्र कहते हैं। यह दो प्रकार का है—सेतु और केतु। नहर, कूआ आदि कृत्रिम साधनों से सींची जाने वाली भूमि को सेतु कहते हैं और केवल वर्षा के प्राकृतिक जल से सींची जाने वाली भूमि को केतु।

(२) वास्तु—प्राचीन काल में घर को वास्तु कहा जाता था। यह तीन प्रकार का होता है—खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित। भूमिगृह अर्थात् तलघर को 'खात' कहते हैं। नींव खोदकर भूमि के ऊपर बनाया हुआ महल आदि 'उच्छ्रित' और भूमिगृह के ऊपर बनाया हुआ भवन 'खातोच्छ्रित' कहलाता है।

(३) हिरण्य—आभूषण आदि के रूप में गढ़ी हुई तथा बिना गढ़ी हुई चाँदी।

(४) सुवर्ण—गढ़ा हुआ तथा बिना गढ़ा हुआ सभी प्रकार का स्वर्ण। हीरा, पन्ना, मोती आदि जवाहरात भी इसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(५) धन—गुड़, शक्कर आदि।

(६) धान्य—चावल, गेहूँ बाजरा आदि।

(७) द्विपद—दास, दासी आदि।

(८) चतुष्पद—हाथी, घोड़ा, गाय आदि पशु।

(९) कुप्य—धातु के बने हुए पात्र, कुरसी, मेज आदि घर-गृहस्थी के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ।

जैनश्रमण उक्त सब परिग्रहों का मन, वचन और शरीर से न स्वयं संग्रह करता है, न दूसरों से करवाता है और न करने वालों का अनुमोदन ही करता है। वह पूर्णरूपेण असंग, अनासक्त, अकिंचन वृत्ति का धारक होता है। कौड़ीमात्र परिग्रह भी उसके लिए विष है। और तो क्या, वह अपने शरीर पर भी ममत्व भाव नहीं रख सकता। वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि जो कुछ भी उपकरण अपने पास रखता है, वह सब संयम-यात्रा के सुचारु रूप से पालन करने के निमित्त ही

रखता है, ममत्त्वबुद्धि से नहीं। ममत्त्व बुद्धि से रखा हुआ उपकरण जैनसंस्कृति की भाषा में उपकरण नहीं रहता, अधिकरण हो जाता है, अनर्थ का मूल बन जाता है। कितना ही अच्छा सुन्दर उपकरण हो, जैनश्रमण न उस पर मोह रखता है, न अपने-पन का भाव लाता है, न उसके खोए जाने पर आर्तध्यान ही करता है। जैन भिक्षु के पास वस्तु केवल वस्तु बनकर रहती है, वह परिग्रह नहीं बनती। क्योंकि परिग्रह का मूल मोह है, मूर्च्छा है, आसक्ति है, ममत्त्व है। साधक के लिए यही सबसे बड़ा परिग्रह है। आचार्य शय्यंभव दशवैकालिक सूत्र में भगवान् महावीर का सन्देश सुनाते हैं—'**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो नाइपुत्तेण ताइणा।**' आचार्य उमास्वाति कहते हैं—'**मूर्च्छा परिग्रहः।**' मूर्च्छा का अर्थ आसक्ति है। किसी भी वस्तु में, चाहे वह छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य एवं आभ्यन्तर आदि किसी भी रूप में हो, अपनी हो या पराई हो, उसमें आसक्ति रखना, उसमें बँध जाना, एवं उसके पीछे पड़कर अपना आत्म-विवेक खो बैठना, परिग्रह है। बाह्य वस्तुओं को परिग्रह का रूप यह मूर्च्छा ही देती है। यही सबसे बड़ा विष है। अतः जैनधर्म भिक्षु के लिए जहाँ बाह्य धन, सम्पत्ति आदि परिग्रह के त्याग का विधान करता है, वहाँ ममत्त्व भाव आदि अन्तरंग परिग्रह के त्याग पर भी विशेष बल देता है। अन्तरंग परिग्रह के मुख्य रूपेण चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—

मिथ्यात्व-वेदरागा,
दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव।
चत्वारश्च कषायाश्,
चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥

जैनश्रमण का एक बहुत सुप्रसिद्ध नाम निर्ग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्र के शब्दों में निर्ग्रन्थ का अर्थ है—ग्रन्थ अर्थात् गाँठ से रहित।

'निर्गतो ग्रन्थान् निर्ग्रन्थः।' परिग्रह ही गाँठ है। जो भी साधक इस गाँठ को तोड़ देता है, वही आत्म-शान्ति प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं।

एक आचार्य अपरिग्रह महाव्रत के ५४ अंगों का निरूपण करते हैं—अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त और अचित्त–यह संक्षेप में छः प्रकार का परिग्रह है। उक्त छः प्रकार के परिग्रह को भिक्षु न मन से स्वयं रखे, न मन से रखवाए, और न रखने वालों का मन से अनुमोदन करे। इस प्रकार मनोयोग सम्बन्धी १८ भंग हुए। मन के समान ही वचन के १८, और शरीर के १८, सब मिलकर ५४ भंग हो जाते हैं।

जैन भिक्षु का आचरण अतीव उच्चकोटि का आचरण है। उसकी तुलना आस-पास में अन्यत्र नहीं मिल सकती। वह वस्त्र, पात्र आदि उपधि भी अत्यन्त सीमित एवं संयमोपयोगी ही रखता है। अपने वस्त्र पात्रादि वह स्वयं उठा कर चलता है। संग्रह के रूप में किसी गृहस्थ के यहाँ जमा करके नहीं छोड़ता है। सिक्का, नोट एवं चेक आदि के रूप में किसी प्रकार की भी धन संपत्ति नहीं रख सकता। एकबार का लाया हुआ भोजन अधिक से अधिक तीन पहर ही रखने का विधान है, वह भी दिन में ही। रात्रि में तो न भोजन रखा जा सकता है और न खाया जा सकता है। और तो क्या, रात्रि में एक पानी की बूँद भी नहीं पी सकता। मार्ग में चलते हुए भी चार मील से अधिक दूरी तक आहार पानी नहीं लेजा सकता। अपने लिए बनाया हुआ न भोजन ग्रहण करता है और न वस्त्र, पात्र, मकान आदि। वह सिर के बालों को हाथ से उखाड़ता है, लोंच करता है। जहाँ भी जाना होता है नंगे पैरों पैदल जाता है, किसी भी सवारी का उपयोग नहीं करता।

यहाँ अधिक लिखने का प्रसंग नहीं है। विशेष जिज्ञासु आचारांग सूत्र, दसवै-कालिक सूत्र आदि जैन आचार ग्रन्थों का अध्ययन कर सकते हैं।

: ६ :

'श्रमण' शब्द का निर्वचन

भारत की प्राचीन संस्कृति, 'श्रमण' और 'ब्राह्मण' नामक दो धाराओं में बहती आ रही है। भारत के अति समृद्ध भौतिक जीवन का प्रतिनिधित्व ब्राह्मण धारा करती है और उसके उच्चतम आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व श्रमण-धारा। यही कारण है कि जहाँ ब्राह्मण-संस्कृति ऐहिक सुखसमृद्धि, भोग एवं स्वर्गीय सुख की कल्पनाओं तक ही अटक जाती है, वहाँ श्रमण संस्कृति त्याग के मार्ग पर चलती है, मन की वासनाओं का दलन करती है, स्वर्गीय सुखों के प्रलोभन तक को ठोकर लगाती है, और अपने बन्धनों को तोड़कर पूर्ण, सच्चिदानन्द, अजर, अमर, परमात्मपद को पाने के लिए संघर्ष करती है। ब्राह्मण-संस्कृति का त्याग भी भोग-मूलक है और श्रमण संस्कृति का भोग भी त्याग-मूलक है। ब्राह्मण संस्कृति के त्याग में भोग की ध्वनि ही ऊँची रहती है और श्रमण संस्कृति के भोग में त्याग की ध्वनि। संक्षेप में यह भेद है श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति का, यदि हम तटस्थ वृत्ति से कुछ विचार कर सकें।

लेखक, भिक्षु होने के नाते श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसकी महत्ता की डींग मारता है, यह बात नहीं है। ब्राह्मण संस्कृति का साहित्य भी इसका साक्षी है। ब्राह्मण साहित्य का मूल वेद है। वह ईश्वरीय वाणी के रूप में परम पवित्र एवं मूल सिद्धान्त माना

है। देखिए, उसके सम्बन्ध में भगवद्गीता का दूसरा अध्याय क्या कहता है?

त्रैगुण्य-विषया वेदा
निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्य-सत्त्वस्थो,
निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

—'हे अर्जुन ! सब के सब वेद तीन गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिए तू उन भोगों एवं उनके साधनों में अलिप्त रहकर, हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य तत्त्वात्मस्वरूप में स्थित, योगक्षेम की कल्पनाओं से परे आत्मवान् होकर विचरण कर।'

यावानर्थ उदपाने,
सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु
ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

—'सब ओर से परिपूर्ण विशाल एवं अथाह जलाशय के प्राप्त हो जाने पर क्षुद्र जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, आत्मस्वरूप को जानने वाले ब्राह्मण का सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है, अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं रहता है।

पाठक ऊपर के दो श्लोकों पर से विचार सकते हैं कि ब्राह्मण-संस्कृति का मूलाधार क्या है? ब्राह्मण संस्कृति के मूल वेद हैं और वे प्रकृति के भोग और उनके साधनों का ही वर्णन करते हैं। आत्मतत्त्व की चिन्तना के लिए उनके पास कुछ नहीं है। भगवद्गीता वेदों को क्षुद्र जलाशय की उपमा देती है। वेदों का क्षुद्रत्व इसी बात में है कि वे यज्ञ, यागादि क्रिया काण्डों का ही विधान करते हैं, ऐहिक भोग-विलास एवं स्वर्गों का संकल्प ही मानव के सामने रखते हैं, आत्म-विद्या का नहीं।

यह निष्कर्ष हम ही नहीं निकाल रहे हैं, अपित सनातन धर्म के सुप्रसिद्ध भक्तराज जयदयालजी गोयनका भी गोरखपुर से प्रकाशित गीतांक में लिखते हैं—"सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों के कार्य को 'त्रैगुण्य' कहते हैं। अतः समस्त भोग और ऐश्वर्य मय पदार्थों और उनकी प्राप्ति के उपायभूत समस्त कर्मों का वाचक यहाँ 'त्रैगुण्य' शब्द है। उन सब का अङ्ग-प्रत्यङ्गों सहित वर्णन जिन (ग्रन्थों) में वर्णन हो, उनको 'त्रैगुण्यविषयाः' कहते हैं। यहाँ वेदों को 'त्रैगुण्यविषयाः', बतला कर यह भाव दिखलाया है कि वेदों में कर्मकाण्ड का वर्णन अधिक होने के कारण वेद 'त्रैगुण्यविषय' हैं।"

केवल वेद ही नहीं, अन्यत्र भी आपको अनेकों ऐसे प्रसंग मिलेंगे, जहाँ ब्राह्मण संस्कृति के भौतिक वाद का मुक्त समर्थन मिलता है। श्रीमद्-भागवत के दशम स्कन्ध में ईश्वरीय अवतार कहे जानेवाले श्रीकृष्णचन्द्रजी के जीवन का वर्णन कितना भोग-प्रधान है, कितना नग्न शृंगारमय है, इसे हर कोई पाठक देख-सुन सकता है। जब कि ईश्वरीय रूप रखने वालों की यह स्थिति है, तब साधारण जनता की क्या स्थिति होनी चाहिए, यह स्वयं निर्णय किया जा सकता है।

अधिक लिखने का यहाँ प्रसंग नहीं है। अतः आइए, प्रस्तुत की चर्चा करें। श्रमण संस्कृति का मूलाधार स्वयं 'श्रमण' शब्द ही है। लाखों-करोड़ों वर्षों की श्रमण संस्कृति-सम्बन्धी चेतना आप अकेले श्रमण शब्द में ही पा सकते हैं। श्रमण का मूल प्राकृत 'समण' है। समण के संस्कृत रूपान्तर तीन होते हैं **श्रमण, समन और शमन**। 'समण' संस्कृति का वास्तविक मूलाधार इन्हीं तीन संस्कृत रूपों पर से व्यक्त होता है। प्राचीन ग्रन्थों की लंबी चर्चा न करके श्रीयुत इन्द्रचन्द्र एम. ए वेदान्ताचार्य के संक्षिप्त शब्दों में ही हम भी अपना विचार प्रकट कर रहे हैं—

(१) 'श्रमण' शब्द 'श्रम्' धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। यह शब्द इस बात को प्रकट करता है कि व्यक्ति अपना विकास

अपने ही परिश्रम द्वारा कर सकता है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तर दायी है।

(२) समन का अर्थ है—समता भाव, अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना, सभी के प्रति समभाव रखना। दूसरों के प्रति व्यवहार की कसौटी आत्मा है। जो बात अपने को बुरी लगती है, वह दूसरों के लिए भी बुरी है। **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**—यही हमारे व्यवहार का आधार होना चाहिए। समाज-विज्ञान का यही मूलतत्त्व है कि किसी के प्रति राग या द्वेष न करना, शत्रु और मित्र को बराबर समझना, जात पाँत तथा अन्य भेदों को न मानना।

(३) शमन का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शान्त रखना। [मनुष्य का जीवन ऊँचा-नीचा अपनी वृत्तियों के अनुसार ही होता है। अकुशल वृत्तियाँ आत्मा का पतन करती हैं और कुशल वृत्तियाँ उत्थान। अकुशल अर्थात् दुर्वृत्तियों को शान्त रखना, और कुशल वृत्तियों का विकास करना ही श्रमण साधना का परम उद्देश्य है—लेखक]

इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज का कल्याण श्रम, सम, और शम इन तीनों तत्त्वों पर आश्रित है। यह 'समण' संस्कृति का निचोड़ है। श्रमण संस्कृति इसका संस्कृत में एकाङ्गी रूपान्तर है।"

अनुयोग द्वार सूत्र के उपक्रमाधिकार में भाव-सामायिक का निरूपण करते हुए श्रमण शब्द के निर्वचन पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रसंग की गाथाएँ बड़ी ही भावपूर्ण हैं—

जह मम न पियं दुक्खं,
जाणिय एमेव सव्व-जीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य,
सममणइ तेण सो समणो ॥१॥

—'जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है।' यह समझ कर ...

न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न किसी प्रकार का हिंसा का अनुमोदन ही करता है, अर्थात् सभी प्राणियों में समत्व-बुद्धि रखता है, वह श्रमण है।

मूल-सूत्र में '**सममणइ**' शब्द आया है, उसकी व्याख्या करते हुए मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—**सममणति त्ति-सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तते यतस्तेनासौ समणइति।**' अण् धातु वर्तन अर्थ में है, और सम् उपसर्ग तुल्यार्थक है। अतः जो सब जीवों के प्रति **सम्** अर्थात् समान **अणति** अर्थात् वर्तन करता है, वह समण कहलाता है।

णत्थि य से कोइ वेसो,
पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो,
एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥२॥

—जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको सभी जीव समानभाव से प्रिय हैं, वह श्रमण है। यह श्रमण का दूसरा पर्याय है।

आचार्य हेमचन्द्र उक्त गाथा के 'समण' शब्द का निर्वचन 'सममन' करते हैं। जिसका सब जीवों पर **सम** अर्थात् समान **मन** अर्थात् हृदय हो वह सममना कहलाता है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यहाँ तो मूल में 'समण' शब्द है, एक मकार कहाँ चला गया? आचार्य उत्तर देते हैं कि निरुक्त विधि से सममन के एक मकार का लोप हो गया है। आचार्य श्री के शब्दों में ही देखिए, प्रस्तुत गाथा की व्याख्या का उत्थान और उपसंहार। '**तदेवं सर्वजीवेषु समत्वेन सममणतीति समण इत्येकः पर्यायो दर्शितः। एवं समं मनोऽस्येति सममना इत्यन्योऽपि पर्यायो भवत्येवेति दर्शयन्नाह............सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वाद्, अनेन भवति समं मनोऽस्येति निरुक्तविधिना समना इत्येषोऽन्योपि पर्यायः।**'

तो समणो जइ सुमणो,
भावेण जइ ण होइ पाव-मणो।

सयणे य जणे य समो,
समो अ माणावमाणेसु ॥३॥

—श्रमण सुमना होता है, वह कभी भी पापमना नहीं होता। अर्थात् जिसका मन सदा प्रफुल्लित रहता है, जो कभी भी पापमय चिन्तन नहीं करता, जो स्वजन और परजन में तथा मान और अपमान में बुद्धि का उचित सन्तुलन रखता है, वह श्रमण है।

आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का मर्मोद्घाटन करते हुए श्रमण का अर्थ तपस्वी करते हैं। अर्थात् जो अपने ही श्रम से तपःसाधना से मुक्ति लाभ करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं—'**श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः।**'

आचार्य शीलांक भी सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत १६ वें अध्ययन में श्रमण शब्द की यही श्रम और सम सम्बन्धी अमर घोषणा कर रहे हैं—'**श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्योऽथवा समं तुल्यं मित्रादिषु मनः—अन्तःकरणं यस्य सः सममनाः सर्वत्र वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः।**'

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्धान्तर्गत १६ वें गाथा अध्ययन में भगवान् महावीर ने साधु के माहन[1] (ब्राह्मण), श्रमण, भिक्षु[2] और निर्ग्रन्थ[3] इस प्रकार चार सुप्रसिद्ध नामों का वर्णन किया है। साधक के

---

१ किसी भी प्राणी का हनन न करो, यह प्रवृत्ति जिसकी है, वह माहन है। '**माहणत्ति प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनः।**' आचार्य शीलांक, सूत्र कृतांग वृत्ति १।१६।

२ जो शास्त्र की नीति के अनुसार तपः साधना के द्वारा कर्म-बन्धनों का भेदन करता है, वह भिक्षु है। '**यः शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुः।**'—आचार्य हरिभद्र, दशवैकालिक वृत्ति दशम अध्ययन।

३ जो ग्रन्थ अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित होता है, कुछ भी छुपाकर गाँठ बाँधकर नहीं रखता है, वह निर्ग्रन्थ है। '**निर्गतो ग्रन्थाद् निर्ग्रन्थः।**' आचार्य हरिभद्र, दशवैकालिक वृत्ति प्रथम अध्ययन।

प्रश्न करने पर भगवान् ने उक्त शब्दों की विभिन्न रूप से अत्यन्त सुन्दर भाव-प्रधान व्याख्या की है।

लेखक का मन उक्त सभी नामों पर भगवान् की वाणी का प्रकाश डालना चाहता है, परन्तु यहाँ मात्र श्रमण शब्द के निर्वचन का ही प्रसंग है, अतः इनमें से केवल श्रमण शब्द की भावना ही भगवान् महावीर के प्रवचनानुसार स्पष्ट की जा रही है।

—"जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता है, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से भी रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सब से निवृत्त[1] रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, संयमी है, मोक्ष मार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह ममत्त्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है।"

---

१ भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन स्वरूप उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही कहा है कि केवल मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता, श्रमण होता है समता की साधना से। **'न वि मुंडिएण समणो'** **'समयाए समणो होइ।'**

करुणा मूर्ति तथागत बुद्ध ने भी धम्म पद के धम्मट्ठ वग्ग में श्रमण शब्द के निर्वचन पर कुछ ऐसा ही प्रकाश डाला है—

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥ ६ ॥

—जो व्रत-हीन है, जो मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा-लोभ से भरा (मनुष्य) क्या श्रमण बनेगा?

यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समणो' ति पवुच्चति ॥ १० ॥

—जो सब छोटे-बड़े पाप का शमन करता है, उसे पापों का शमन-कर्ता होने के कारण से श्रमण कहते हैं।

एत्थ वि समणे अणिस्सिए, अणियाणे, आदाणं च, अतिवायं च, मुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च, इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पदोसहेऊ, तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिया दंते, दविए, वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे।

[सूत्र कृतांग १ । १६ । २]

जैन संस्कृति की साधना का समस्त सार इस प्रकार अकेले श्रमण शब्द में अन्तर्निहित है। यदि हम इधर-उधर न जाकर अकेले श्रमण शब्द के समत्व भाव को ही अपने आचरण में उतार लें तो अपना और विश्व का कल्याण हो जाय। जैन संस्कृति की साधना का श्रम केवल विचार में ही नहीं, आचरण में भी उतरना चाहिए, प्रतिपल एवं प्रतिक्षण उतरना चाहिए। सम भाव की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला श्रम मानव जीवन में कभी न बुझने वाला अमर प्रकाश प्रदान करता है।

: ७ :

आवश्यक का स्वरूप

मानव-हृदय की ओर से एक प्रश्न है—आवश्यक किसे कहते हैं? उसका क्या स्वरूप है? उत्तर में निवेदन है कि जो क्रिया, जो कर्तव्य, जो साधना अवश्य करने योग्य है, उसका नाम आवश्यक है।

इस पर भी प्रश्न है कि—उक्त स्वरूप-निर्णय से तो आवश्यक बहुत-सी चीजें ठहरती हैं? शौचादि शारीरिक क्रियाएँ अवश्य करने योग्य हैं, अतः वे भी आवश्यक कहलाएँगी? दुकानदार के लिए प्रतिदिन दुकान पर जाना आवश्यक है, नौकर के लिए नौकरी पर पहुँचना आवश्यक है, कामी के लिए कामिनी-सेवन करना आवश्यक है? अस्तु, यह निर्णय करना शेष है कि आवश्यक से क्या अर्थ ग्रहण किया जाय?

आपका कहना ठीक है। ऊपर जो सांसारिक क्रियाएँ बताई गयी हैं, वे भी आवश्यक-पदवाच्य हो सकती हैं। परन्तु किस के लिए? बाह्यदृष्टि वाले, संसारी, मोह माया संलग्न एवं विषयी प्राणी के लिए।

सामान्य रूप से शरीरधारी मानव प्राणी दो प्रकार के माने गए हैं—(१) बहिर्दृष्टि और (२) अन्तर्दृष्टि। बहिर्दृष्टि मनुष्यों के लिए संसार और उसका भोग-विलास ही सब कुछ है। इसके अतिरिक्त अन्य आध्यात्मिक साधना के मार्ग उन्हें अरुचिकर प्रतीत होते हैं। दिन-रात दाम ही दाम और काम ही काम में उनके जीवन के अमूल्य

: ८ :

आवश्यक का निर्वचन

निर्वचन का अर्थ है—संयुक्त पद को तोड़ कर अर्थ का स्पष्टीकरण करना। उदाहरण के लिए पंकज शब्द को ही लीजिए। पंकज का शाब्दिक निर्वचन है—'पंकाज्जायते इति पंकजः'। 'जो पंक से उत्पन्न हो, वह कमल।' इसी निर्वचन की दृष्टि को लेकर प्रश्न है कि—आवश्यक का शाब्दिक निर्वचन क्या है?

आवश्यक का निर्वचन अनेकों आचार्यों ने किया है। अनुयोगद्वार-सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलधारी हेमचन्द्र, आवश्यक-सूत्र के टीकाकार आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि, और विशेषावश्यक महाभाष्य के टीकाकार आचार्य कोटि इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ कोट्याचार्य के द्वारा विशेषावश्यक-टीका में बताये गए निर्वचन उपस्थित करते हैं।

(१) अवश्यं करणाद् आवश्यकम्।[1] जो अवश्य किया जाय वह आवश्यक है। साधु और श्रावक दोनों ही नित्य प्रति अर्थात् प्रति दिन क्रमशः दिन और रात्रि के अन्त में सामायिक आदि की साधना करते हैं, अतः वह साधना आवश्यक-पद-वाच्य है। उक्त निर्वचन अनुयोग-द्वार-सूत्र की निम्नोक्त गाथा से सहमत है:—

समणेण सावएण य,
अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा।

---

१ 'अवश्यंकर्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभयकालं क्रियत इति भावः।'—आचार्य मलयगिरि।

अन्तो अहो—निसस्स य
तम्हा आवस्सयं नाम ॥

(२) आपाश्रयो वा इदं गुणानाम्, प्राकृतशैल्या आवस्सयं। प्राकृत भाषा में आधार वाचक आपाश्रय शब्द भी 'आवस्सय' कहलाता है। जो गुणों की आधार भूमि हो, वह अवस्सय=आपाश्रय है। आवश्यक आध्यात्मिक समता, नम्रता, आत्मनिरीक्षण आदि सद्गुणों का आधार है; अतः वह आपाश्रय भी कहलाता है।

(३) गुणानां वश्यमात्मानं करोतीति।[1] जो आत्मा को दुर्गुणों से हटा कर गुणों के आधीन करे, वह आवश्यक है। आ+वश्य, आवश्यक।

(४) गुणशून्यमात्मानं गुणैरावासयतीति आवासकम्। गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से वासित करे, वह आवश्यक है। प्राकृत में आवासक भी 'आवस्सय' बन जाता है। गुणों से आत्मा को वासित करने का अर्थ है—गुणों से युक्त करना।

---

१ 'ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रिय-कषायादिभाव-शत्रवो यस्मात् तद् आवश्यकम्'। आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि इन्द्रिय और कषाय आदि भाव-शत्रु जिस साधना के द्वारा ज्ञानादि गुणों के वश्य किए जायँ, अर्थात् पराजित किए जायँ, वह आवश्यक है। अथवा ज्ञानादि गुण समूह और मोक्ष पर जिस साधना के द्वारा अधिकार किया जाय, वह आवश्यक है। 'ज्ञानादि गुण कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्यं क्रियतेऽनेन इत्यावश्यकम्।'

दिगंबर जैनाचार्य वट्टकेर मूलाचार में कहते हैं कि जो साधक राग, द्वेष, विषय, कषायादि के वशीभूत न हो वह अवश कहलाता है, उस अवश का जो आचरण है, वह आवश्यक है।

'ण वसो अवसो, अवसस्स कम्ममावासयंत्ति बोधव्वा।'

(५) गुणैर्वा आवासकं = अनुरञ्जकं वस्त्रधूपादिवत्। आवस्सय का संस्कृत रूप जो आवासक होता है, उसका अर्थ है—'अनुरंजन करना'। जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से अनुरंजित करे, वह आवासक।

(६) गुणैर्वा आत्मानं आवासयति = आच्छादयति, इति आवासकम्। वस् धातु का अर्थ आच्छादन करना भी होता है। अतः जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा आत्मा को आवासित = आच्छादित करे, वह आवासक है। जब आत्मा ज्ञानादि गुणों से आच्छादित रहेगा तो दुर्गुण-रूप धूल आत्मा पर नहीं पड़ने पाएगी।

'आवस्सय' 'आवश्यक' के ऊपर जो निर्वचन दिए गए हैं, उनकी आधार-भूमि, जिन भद्र गणी क्षमाश्रमण का विशेषावश्यक भाष्य है। जिज्ञासु पाठक ८७७ और ८७८ वीं गाथा देखने की कृपा करें।

: ६ :

आवश्यक के पर्याय

पर्याय, अर्थान्तर का नाम है। एक पदार्थ के अनेक नाम परस्पर पर्यायवाची कहलाते हैं, जैसे—जल के वारि, पय, सलिल, नीर, तोय आदि पर्याय हैं। प्रस्तुत में प्रश्न है कि आवश्यक के कितने पर्याय हैं?

अनुयोग द्वार-सूत्र में आवश्यक के अवश्य-करणीय, ध्रुव-निग्रह, विशोधि, न्याय, आराधना, मार्ग आदि पर्याय बताए गए हैं—

'आवस्सयं अवस्स-करणिज्जं,
धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयण-छक्कवग्गो,
नाओ आराहणा मग्गो।'

१. आवश्यक—अवश्य करने योग्य कार्य आवश्यक कहलाता है। सामायिक आदि की साधना साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के द्वारा अवश्य रूप से करने योग्य है, अतः आवश्यक है। 'अवश्यं क्रियते आवश्यकम्।'

२. अवश्यकरणीय—मुमुक्षु साधकों के द्वारा नियमेन अनुष्ठेय होने के कारण अवश्य करणीय है।

३. ध्रुवनिग्रह—अनादि होने के कारण कर्मों को ध्रुव कहते हैं। कर्मों का फल जन्म जरा मरणादि संसार भी अनादि है, अतः वह भी

ध्रुव कहलाता है। अस्तु, जो कर्म और कर्मफलस्वरूप संसार का निग्रह करता है, वह ध्रुव निग्रह है।

४. विशोधि—कर्ममलिन आत्मा की विशुद्धि का हेतु होने से आवश्यक विशोधि कहलाता है।

५. अध्ययन षट्कवर्ग—आवश्यक-सूत्र के सामायिक आदि छह अध्ययन हैं, अतः अध्ययन षट्क वर्ग है।

६. न्याय—अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक् उपाय होने से न्याय है। अथवा आत्मा और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का अपनयन करने के कारण भी न्याय कहलाता है। आवश्यक की साधना आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करती है।

७. आराधना—मोक्ष की आराधना का हेतु होने से आराधना है।

८. मार्ग—मोक्षपुर का प्रापक होने से मार्ग है। मार्ग का अर्थ उपाय है।

उपर्युक्त पर्यायवाची शब्द थोड़ा-सा अर्थ भेद रखते हुए भी मूलतः समानार्थक हैं।



: १० :

द्रव्य और भाव आवश्यक

जैन-दर्शन में द्रव्य और भाव का बहुत गंभीर एवं सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। यहाँ प्रत्येक साधना एवं प्रत्येक विचार को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाता है। बहिर्दृष्टि वाले लोग द्रव्य प्रधान होते हैं, जब कि अन्तर्दृष्टि वाले लोग भाव प्रधान होते हैं।

द्रव्य आवश्यक का अर्थ है—अन्तरंग उपयोग के बिना, केवल परंपरा के आधार पर, पुण्य-फल की इच्छा रूप द्रव्य आवश्यक होता है। द्रव्य का अर्थ है—प्राणरहित शरीर। बिना प्राण के शरीर केवल दृश्य वस्तु है, गति शील नहीं। आवश्यक का मूल पाठ बिना उपयोग = विचार के बोलना, अन्यमनस्क होकर स्थूल रूप में उठने बैठने की विधि करना, अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों के प्रति निरादर भाव रखकर केवल अहिंसा आदि शब्दों से चिपटे रहना, द्रव्य आवश्यक है। दिन और रात बे-लगाम घोड़ों की तरह उछलना, निरंकुश हाथियों की तरह जिनाज्ञा से बाहर विचरण करना, और फिर प्रातः सायं आवश्यक सूत्र के पाठों की रटन क्रिया में लग जाना, द्रव्य नहीं तो क्या है? विवेकहीन साधना अन्त र्जीवन में प्रकाश नहीं दे सकती। यह द्रव्य आवश्यक साधना-क्षेत्र में उपयोगी नहीं होता। अतएव अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है—

"जे इमे समणगुणमुक्कजोगी, छक्काय-निरणुकंपा, हया इव उद्दामा, गया इव निरंकुसा, घट्टा, मट्टा, तुप्पोट्ठा, पंडुरपडपाउरणा,

जिणाणमणाणाए सच्छंदं विहरिऊण उभओो कालं आवस्सयस्स उव-ट्ठंति; से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं।"

भाव आवश्यक का अर्थ है—अन्तरंग उपयोग के साथ, लोक तथा परलोक की वासना रहित, यश कीर्ति सम्मान आदि की अभिलाषा से शून्य, मन वचन शरीर को निश्चल, निष्प्रकम्प, एकाग्र बना कर, आवश्यक की मूल भावना में उतर कर, दिन और रात्रि के जीवन में जिनाज्ञा के अनुसार विचरण कर आवश्यक सम्बन्धी मूल-पाठों के अर्थों पर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करते हुए, केवल निजात्मा को कर्म-मल से विशुद्ध बनाने के लिए जो दोनों काल सामायिक आदि की साधना की जाती है, वह भाव आवश्यक होता है।

यह भाव आवश्यक ही यहाँ आवश्यकत्वेन अभिमत है। इसके विना आवश्यक क्रिया आत्म-विशुद्धि नहीं कर सकती। यह भाव आवश्यक ही वस्तुतः योग है। योग का अर्थ है—'मोक्षेण योजनाद् योगः।' वाचक यशो विजय जी, ज्ञान-सार में कहते हैं—जो मोक्ष के साथ योजन= सम्बन्ध कराए, वह योग कहलाता है। भाव आवश्यक में हम साधक लोग, अपनी चित्तवृत्ति को संसार से हटा कर मोक्ष की ओर केन्द्रित करते हैं, अतः वह ही वास्तविक योग है। प्राणायाम आदि हठयोग के हथकंडे केवल शारीरिक व्यायाम हैं, मनोरंजन है, वह हमें मोक्ष-स्वरूप की झाँकी नहीं दिखा सकता।

भाव आवश्यक का स्वरूप, अनुयोग द्वार सूत्र में देखिए :—

"जं णं इमे समणो वा समणी वा, सावओ वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओो कालं आवस्सयं करेंति; से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं।"

: ११ :

आवश्यक के छः प्रकार

जैन-संस्कृति में जिसे आवश्यक कहा जाता है, वैदिक संस्कृति में उसे नित्य-कर्म कहते हैं। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग कर्म बताए गए हैं। ब्राह्मण के छः कर्म हैं—दान लेना, दान देना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, स्वयं पढ़ना, और दूसरों को पढ़ाना। इसी प्रकार रक्षा करना आदि क्षत्रिय के कर्म हैं। व्यापार करना, कृषि करना, पशु पालन करना आदि वैश्यकर्म हैं। ब्राह्मण आदि उच्च वर्ग की सेवा करना शूद्रकर्म है।

मैं पहले लिख कर आया हूँ कि ब्राह्मण-संस्कृति संसार की भौतिक-व्यवस्था में अधिक रस लेती है, अतः उस के नित्यकर्मों के विधान भी उसी रंग में रँगे हुए हैं। उक्त आजीविका मूलक नित्यकर्म का यह परिणाम आया कि भारत की जनता ऊँचे नीचे जातीय भेद भावों की दल-दल में फँस गई। किसी भी व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार जीवनोपयोगी कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करना कठिन हो गया। प्रायः प्रत्येक दिशा में अनादि अनन्त काल के लिए ठेकेदारी का दावा किया जाने लगा।

परन्तु जैन-संस्कृति मानवता को जोड़ने वाली संस्कृति है। उसके यहाँ किसी प्रकार की भी ठेकेदारी का विधान नहीं है। अत एव जैन-धर्म के षडावश्यक मानव मात्र के लिए एक जैसे हैं। ब्राह्मण हों, क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र हों, कोई भी हों सब सामायिक कर सकते हैं, वन्दन कर सकते हैं, प्रतिक्रमण कर सकते हैं। छहों ही आवश्यक बिना किसी जाति और वर्ग भेद के सब के लिए आवश्यक हैं। केवल गृहस्थ

और केवल साधु ही नहीं, अपितु दोनों ही षडावश्यक का समान अधिकार रखते हैं। अतः जैन आवश्यक की साधना मानव मात्र के लिए कल्याण एवं मंगल की भावना प्रदान करती है।

अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के छः प्रकार बताए गए हैं—'सामाइयं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं।'

१ सामायिक—समभाव, समता।
२ चतुर्विंशतिस्तव—वीतराग देव की स्तुति।
३ वन्दन—गुरुदेवों को वन्दन।
४ प्रतिक्रमण—संयम में लगे दोषों की आलोचना।
५ कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग।
६ प्रत्याख्यान—आहार आदि की आसक्ति का त्याग।

अनुयोग द्वार सूत्र में प्रकारान्तर से भी छः आवश्यकों का उल्लेख किया गया है। यह केवल नाम भेद है, अर्थ-भेद नहीं।

सावज्जजोग-विरई,
उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा,
वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव॥

(१) सावद्ययोगविरति—प्राणातिपात, असत्य आदि सावद्य योगों का त्याग करना। आत्मा में अशुभ कर्मजल का आश्रव पापरूप प्रयत्नों द्वारा होता है, अतः सावद्य व्यापारों का त्याग करना ही सामायिक है।

(२) उत्कीर्तन—तीर्थंकर देव स्वयं कर्मों को क्षय करके शुद्ध हुए हैं और दूसरों को आत्मशुद्धि के लिए सावद्ययोगविरति का उपदेश दे गए हैं, अतः उनके गुणों की स्तुति करना उत्कीर्तन है। यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है।

(३) गुणवत्प्रतिपत्ति—अहिंसादि पाँच महाव्रतों के धर्ता संयमी गुणवान् हैं, उनकी वन्दनादि के द्वारा उचित प्रतिपत्ति करना, गुणवत्प्रतिपत्ति है। यह वन्दन आवश्यक है।

(४) स्खलित निन्दना—संयम-क्षेत्र में विचरण करते हुए साधक से प्रमादादि के कारण स्खलनाएँ हो जाती हैं, उनकी शुद्ध बुद्धि से संवेग की परमोत्तम भावना में पहुँच कर निन्दा करना, स्खलितनिन्दना है। दोष को दोष मान लेना ही वस्तुतः प्रतिक्रमण है।

(५) व्रणचिकित्सा—कायोत्सर्ग का ही दूसरा नाम व्रणचिकित्सा है। स्वीकृत चारित्र-साधना में जब कभी अतिचाररूप दोष लगता है तो वह एक प्रकार का भावव्रण (घाव) हो जाता है। कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है, जो उस भावव्रण पर चिकित्सा का काम देता है।

(६) गुणधारणा—प्रत्याख्यान का दूसरा पर्याय गुणधारणा है। कायोत्सर्ग के द्वारा भावव्रण के ठीक होते ही साधक का धर्म-जीवन अपनी उचित स्थिति में आ जाता है। प्रत्याख्यान के द्वारा फिर उस शुद्ध स्थिति को परिपुष्ट किया जाता है, पहले की अपेक्षा और भी अधिक बलवान बनाया जाता है। किसी भी त्यागरूप गुण को निरतिचार रूप से धारण करना गुणधारणा है।

: १२ :

सामायिक आवश्यक

'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गति' अर्थ वाली 'इण्' धातु से 'समय' शब्द बनता है। सम् का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है, अस्तु जो एकी भावरूप से बाह्य परिणति से वापस मुड़ कर आत्मा की ओर गमन किया जाता है, उसे समय कहते हैं। समय का भाव सामायिक होता है।[१]

उपर्युक्त निर्वचन का संक्षेप में भाव यह है कि—आत्मा को मन, वचन, काय की पापवृत्तियों से रोक कर आत्मकल्याण के एक निश्चित ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक, बाह्य सांसारिक-दुर्वृत्तियों से हट कर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर मन को वश में कर लेता है, वचन को वश में कर लेता है, काय को वश में कर लेता है, कषायों को सर्वथा दूर करता है, राग-द्वेष के दुर्भावों को हटाकर शत्रु मित्र को समान दृष्टि से समझता है, न शत्रु पर क्रोध करता है और न मित्र पर अनुराग करता है। हाँ तो वह महल और मसान, मिट्टी और स्वर्ण सभी अच्छे बुरे सांसारिक द्वन्द्वों में

१ 'सम्' एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।'

—सर्वार्थ सिद्धि ७। ११

समभाव धारण कर लेता है फलत: उसका जीवन सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर शांति एवं समभाव की लहरों में बहने लगता है।

जस्स सामाणिओ अप्पा,
संजमे नियमे तवे ।
तस्स सामाइयं होइ,
इइ केवलि-भासियं ॥
जो समो सव्वभूएसु,
तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ,
इइ केवलि-भासियं ॥[1]

—अनुयोग द्वार सूत्र

सम + आय अर्थात् समभाव का आना सामायिक है। जिस प्रकार हम अपने आप को देखते हैं, अपनी सुख-सुविधाओं को देखते हैं, अपने पर स्नेह सद्भाव रखते हैं, उसी प्रकार दूसरी आत्माओं के प्रति भी सदय एवं सहृदय रहना, सामायिक है। बाह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि अपनाइए, आत्मनिरीक्षण में मन को जोड़िए, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर बनिए, पौद्गलिक पदार्थों का ममत्व हटाकर आत्म स्वरूप में रमण कीजिए, आप सामायिक के उच्च आदर्श पर पहुँच जायँगे। यह सामायिक समस्त धर्म-क्रियाओं, साधनाओं, उपासनाओं, सदाचरणों के प्रति उसी प्रकार आधारभूत है, जिस प्रकार कि आकाश और पृथ्वी चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत हैं।

१—जिसकी आत्मा संयम में, नियम में तथा तप में लीन है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक व्रत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने कहा है।

—जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, मैत्री भावना रखता है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक व्रत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने कहा है।

समभावरूप सामायिक के धारण करने से मानव-जीवन कष्टमय नहीं होता, क्यों कि संसार में जो कुछ भी मन, वचन, एवं शरीरका कष्ट होता है, वह सब विषमभाव से ही उत्पन्न होता है। और वह विषमभाव सामायिक में नहीं होता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव-उक्त छह भेदों से साम्य-भावरूप सामायिक धारण किया जाता है:—

(१) नाम सामायिक—चाहे कोई शुभनाम हो, अथवा अशुभ नाम हो, सुनकर किसी भी प्रकार का राग-द्वेष नहीं करना, नाम सामायिक है।

सामायिकधारी आत्मा शुभाशुभ नामों के प्रयोग पर, स्तुति-निन्दा के शब्दों पर, विचारता है कि—किसी ने शुभ नाम अथवा अशुभ नाम का प्रयोग किया तो क्या हुआ? आत्मा तो शब्द की सीमा से अतीत है। अतएव मैं व्यर्थ ही राग द्वेष के संकल्पों में क्यों फँसूं?

(२) स्थापना सामायिक—जिस किसी स्थापित पदार्थ की सुरूपता अथवा कुरूपता को देखकर रागद्वेष नहीं करना, स्थापना सामायिक है।

सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि जो कुछ यह स्थापित पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, अतः मुझे इसमें रागद्वेष क्यों करना चाहिए? मैं आत्मा हूँ, मेरा इस से कुछ भी हानि-लाभ नहीं है।

(३) द्रव्य सामायिक—चाहे सुवर्ण हो, चाहे मिट्टी हो, इन सभी अच्छे बुरे पदार्थों में समदर्शी भाव रखना, द्रव्य सामायिक है।

सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि यह पुद्गल द्रव्य स्वतः सुन्दर तथा असुन्दर कुछ भी नहीं है। अपना मन ही सुन्दरता, असुन्दरता, अनुकूलता, प्रतिकूलता आदि की कल्पना करता है। आत्मा की दृष्टि से तो स्वर्ण भी मिट्टी है, मिट्टी भी मिट्टी है। हीरा और पत्थर दोनों ही जड़ पदार्थ की दृष्टि से समान हैं।

(४) क्षेत्र सामायिक—चाहे कोई सुन्दर बाग हो, या काँटों से भरी हुई ऊसर भूमि हो, दोनों में समभाव रखना, क्षेत्र सामायिक है।

सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि चाहे राजधानी हो, चाहे जंगल हो, दोनों ही पर क्षेत्र हैं। मेरा क्षेत्र तो केवल आत्मा है, अतएव मेरा उनमें रागद्वेष करना, सर्वथा अयुक्त है। अनात्मदर्शी ही अपना निवास स्थान गाँव या जंगल समझते हैं, आत्मदर्शी के लिए तो अपना आत्मा ही अपना निवास स्थान है। निश्चय नय की दृष्टि में प्रत्येक पदार्थ अपने में ही केन्द्रित है। जड़, जड़ में रहता है, और आत्मा, आत्मा में रहता है।

(५) काल सामायिक—चाहे वर्षा हो, शीत हो, गर्मी हो तथा अनुकूल वायु से सुहावनी वसन्त-ऋतु हो, या भयंकर आँधी बवंडर हो, किन्तु सब अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखना काल सामायिक है।

सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि ठण्डक, गरमी, वसन्त, वर्षा आदि सब पुद्गल के विकार हैं। मेरा तो इन से स्पर्श भी नहीं हो सकता। मैं अमूर्त हूँ, अरूप हूँ। मुझसे भिन्न सभी भाव वैभाविक हैं, अतः मुझे इन परभावजनित वैभाविक भावों में किसी प्रकार का भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

(६) भाव सामायिक—समस्त जीवों पर मैत्रीभाव धारण करना, किसी से किसी प्रकार का भी वैर विरोध नहीं रखना भाव सामायिक है।

प्रस्तुत भाव सामायिक ही वास्तविक उत्तम सामायिक है। पूर्वोक्त सभी सामायिकों का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। आध्यात्मिक संयमी जीवन की महत्ता के दर्शन इसी सामायिक में होते हैं। भाव सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि—मैं अजर, अमर, चित्चमत्कार चैतन्य-स्वरूप हूँ। वैभाविक भावों से मेरा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है।

अतएव जीने में, मरने में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, बन्धु में, शत्रु में, सुख में, दुःख में क्यों हर्ष शोक करूँ ? मुझे तो अच्छे-बुरे सभी प्रसंगों पर समभाव ही रखना चाहिए। हानि और लाभ, जीवन और मरण, मान और अपमान, शत्रु और मित्र आदि सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं। वस्तुतः निश्चय नय की दृष्टि से इनके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

भाव-सामायिक के सम्बन्ध में भगवान् महावीर एवं प्राचीन जैनाचार्यों ने बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है। विस्तार में जाने का तो इधर अवकाश नहीं है, हाँ, संक्षेप में उनके विचारों की झाँकी दिखा देना आवश्यक है।

'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।'

—भगवती सूत्र १। ६।

—वस्तुतः अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है। सामायिक का प्रयोजन भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिच्चमत्कार स्वरूप आत्म-तत्त्व की प्राप्ति ही है।

सावज्ज - जोग - विरओ,
तिगुत्तो छसु संजओ।
उवउत्तो जयमाणो,
आया सामाइयं होइ॥

—आवश्यक-निर्युक्ति

—जब साधक सावद्य योग से विरत होता है, छः काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन, वचन एवं काय को एकाग्र करता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त होता है, यतना में विचरण करता है, वह (आत्मा) सामायिक है।

'समेकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, आत्मविषयोपयोग

(४) **क्षेत्र सामायिक**—चाहे कोई सुन्दर बाग हो, या काँटों से भरी हुई ऊसर भूमि हो, दोनों में समभाव रखना, क्षेत्र सामायिक है।

सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि चाहे राजधानी हो, चाहे जंगल हो, दोनों ही पर क्षेत्र हैं। मेरा क्षेत्र तो केवल आत्मा है, अतएव मेरा उनमें रागद्वेष करना, सर्वथा अयुक्त है। अनात्मदर्शी ही अपना निवास स्थान गाँव या जंगल समझते हैं, आत्मदर्शी के लिए तो अपना आत्मा ही अपना निवास स्थान है। निश्चय नय की दृष्टि में प्रत्येक पदार्थ अपने में ही केन्द्रित है। जड़, जड़ में रहता है, और आत्मा, आत्मा में रहता है।

(५) **काल सामायिक**—चाहे वर्षा हो, शीत हो, गर्मी हो तथा अनुकूल वायु से सुहावनी बसन्त-ऋतु हो, या भयंकर आँधी बवंडर हो, किन्तु सब अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखना काल सामायिक है।

सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि ठण्डक, गरमी, वसन्त, वर्षा आदि सब पुद्गल के विकार हैं। मेरा तो इन से स्पर्श भी नहीं हो सकता। मैं अमूर्त हूँ, अरूप हूँ। मुझसे भिन्न सभी भाव वैभाविक हैं, अतः मुझे इन परभावजनित वैभाविक भावों में किसी प्रकार का भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

(६) **भाव सामायिक**—समस्त जीवों पर मैत्रीभाव धारण करना, किसी से किसी प्रकार का भी वैर विरोध नहीं रखना भाव सामायिक है।

प्रस्तुत भाव सामायिक ही वास्तविक उत्तम सामायिक है। पूर्वोक्त सभी सामायिकों का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। आध्यात्मिक संयमी जीवन की महत्ता के दर्शन इसी सामायिक में होते हैं। भाव सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि—मैं अजर, अमर, चित्चमत्कार चैतन्य-स्वरूप हूँ। वैभाविक भावों से मेरा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है।

अतएव जीने में, मरने में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, बन्धु में, शत्रु में, सुख में, दुःख में क्यों हर्ष शोक करूँ ? मुझे तो अच्छे-बुरे सभी प्रसंगों पर समभाव ही रखना चाहिए। हानि और लाभ, जीवन और मरण, मान और अपमान, शत्रु और मित्र आदि सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं। वस्तुतः निश्चय नय की दृष्टि से इनके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

भाव-सामायिक के सम्बन्ध में भगवान् महावीर एवं प्राचीन जैनाचार्यों ने बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है। विस्तार में जाने का तो इधर अवकाश नहीं है, हाँ, संक्षेप में उनके विचारों की झाँकी दिखा देना आवश्यक है।

'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।'

—भगवती सूत्र १। ६।

—वस्तुतः अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है। सामायिक का प्रयोजन भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिच्चमत्कार स्वरूप आत्म-तत्त्व की प्राप्ति ही है।

सावज्ज - जोग - विरओ,
तिगुत्तो छसु संजओ।
उवउत्तो जयमाणो,
आया सामाइयं होइ॥

—आवश्यक-निर्युक्ति

—जब साधक सावद्य योग से विरत होता है, छः काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन, वचन एवं काय को एकाग्र करता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त होता है, यतना में विचरण करता है, वह (आत्मा) सामायिक है।

'सममेकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, आत्मविषयोपयोग

इत्यर्थः ।''''अथवा सम् समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः, स प्रयोजनमस्येति सामायिकम् ।'
—गोम० जीव० टीका गा० ३६८

—पर द्रव्यों से निवृत्त होकर साधक की ज्ञान-चेतना जब आत्म-स्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव सामायिक होती है। रागद्वेष से रहित माध्यस्थ्यभावापन्न आत्मा सम कहलाता है, उस सम में गमन करना ही भाव सामायिक है।

'भावसामायिकं सर्वजीवेषु मैत्रीभावोऽशुभपरिणामवर्जनं वा ।'
—अनगार धर्मामृत टीका ८ । १९ ।

संसार के सब जीवों पर मैत्रीभाव रखना, अशुभ परिणति का त्याग कर शुभ एवं शुद्ध परिणति में रमण करना, भावसामायिक है।

आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक-भाष्य में तो बड़े ही विस्तार के साथ भाव सामायिक का निरूपण किया है, विशेष जिज्ञासु भाष्य का अध्ययन कर आनन्द उठा सकते हैं।

आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति की ७९६ वीं गाथा[१] में सामायिक के तीन भेद बतलाते हैं—(१) सम्यक्त्व सामायिक, (२) श्रुत सामायिक, (३) और चारित्र सामायिक। समभाव की साधना के लिए सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र ही प्रधान साधन हैं। सम्यक्त्व से विश्वास की शुद्धि होती है, श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है, चारित्र

१—सामाइयं च तिविहं,
सम्मत्त सुयं तहा चरित्तं च ।
दुविहं चेव चरित्तं,
अगारमणगारियं चेव ॥
—आवश्यक निर्युक्ति ७९६

से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर आत्मा को पूर्ण विशुद्ध निर्मल बनाते हैं और उसे परमात्मा की कोटि में पहुँचा देते हैं।

चारित्र सामायिक के अधिकारी-भेद से दो प्रकार हैं—(१) देश, और (२) सर्व। गृहस्थों की आचार-साधना को देशचारित्र कहते हैं। देश का अर्थ है—'अंश'। गृहस्थ अहिंसा आदि आचार-साधना का पूर्णरूप से पालन न करता हुआ अंशतः पालन करता है। साधुओं की आचार-साधना को सर्वचारित्र कहते हैं। सर्व का अर्थ है—'समग्र, पूर्ण'। पाँच महाव्रतधारी साधु, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना को मन, वचन, और काय के द्वारा पूर्णतया पालन करने के लिए कृतप्रयत्न रहता है।

सामायिक की साधना बहुत ऊँची है। आत्मा का पूर्ण विकास सामायिक के बिना सर्वथा असम्भव है। धर्म-क्षेत्र की जितनी भी अन्य साधनाएँ हैं, सबका मूल सामायिक में ही रहा हुआ है। जैन-आगम-साहित्य सबका सब सामायिक की चर्चा से ही ध्वनित है। अतएव वाचक यशोविजयजी सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गीरूप जिनवाणी का सार बतलाते हैं—

"सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूतसामायिकसूत्रवत्"

—तत्त्वार्थ वृत्ति १-१

आचार्य जिनभद्र विशेषावश्यक-भाष्य में सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ-पिण्ड कहते हैं—

'सामाइयं संखेवो, चोद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति।' गा० २७९६

जैन-संस्कृति समप्रधान संस्कृति है। उसके यहाँ तपश्चरण एवं उग्र क्रियाकाण्ड का कुछ महत्त्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व संयम का है, समता का है, सामायिक का है। जबतक समभाव रूप सामायिक न हो, तबतक कोटि-कोटि वर्ष तप करने वाला अविवेकी साधक भी कुछ नहीं कर पाता है। संथार पइन्ना में कहा है:—

जं अन्नाणी कम्मं,
खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो,
खवेइ ऊसास-मेत्तेण ॥

—अज्ञानी एवं असंयमी साधक करोड़ों वर्षों में तपश्चरण के द्वारा जितने कर्म नष्ट करता है, उतने कर्म त्रिगुप्तिधारी संयमी एवं विवेकी साधक एक साँस लेने भर-जैसे अल्प काल में नष्ट कर डालता है।

संयम-शून्य तप, तप नहीं होता, वह केवल देह-दण्ड होता है। यह देहदण्ड नारकी जीव भी सागरों तक सहते रहते हैं, परन्तु उनकी कितनी आत्म-शुद्धि होती है? भगवती सूत्र के छठे शतक में प्रश्न है कि 'सातवीं नरक के नैरयिक जीवों के कर्मों की अधिक निर्जरा होती है अथवा संयमी श्रमण निर्ग्रन्थ के कर्मों की? भगवान् महावीर ने उत्तर में कहा है कि "संयम की साधना करता हुआ श्रमण तपश्चरण आदि के रूप में थोड़ा-सा भी कष्ट सहन करता है तो कर्मों की बड़ी भारी निर्जरा करता है। सूखे घास का गट्ठा अग्नि में डालते ही कितनी शीघ्रता से भस्म होता है? आग से जलते हुए लोहे के तवे पर जल-बिन्दु किस प्रकार सहसा नाम-शेष हो जाता है? इसी प्रकार संयम की साधना भी वह जलती हुई अग्नि है, जिसमें प्रतिक्षण कर्मों के दल के दल सहसा नष्ट होते रहते हैं।"

आचार्य हरिभद्र आवश्यक-निर्युक्ति पर व्याख्या करते समय तप से पहले संयम के उल्लेख का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—'संयम भविष्य में होने वाले कर्मों के आस्रव का निरोध करने वाला है, अतः वह मुख्य है। संयम-पूर्वक ही तप वस्तुतः सफल होता है, अन्यथा नहीं।' 'संयमस्य प्रागुपादानमपूर्वकर्मागमनिरोधोपकारेण प्राधान्यख्यापनार्थम्। तत्पूर्वकं च वस्तुतः सफलं तपः।'

संयम और तप के अन्तर को समझने के लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ। किसी गृहस्थ के घर पर चोरों का आक्रमण होता है। कुछ चोर

घर के अन्दर घुस आते हैं और कुछ घर के बाहर घुसने की तैयारी में खड़े रहते हैं। ऐसी स्थिति में गृहस्थ का क्या कर्तव्य हो जाता है? वह अन्दर घुसे हुए चोरों से लड़े या पहले घर का दरवाजा बंद करे? यदि पहले दरवाजा बंद न करके सीधा चोरों से उलझ जाए तो बाहर खड़े चोरों का दल अन्दर आ सकता है, इस प्रकार चोरों की शक्ति घटने की अपेक्षा बढ़ती ही जाएगी। समझदारी का काम यह है कि पहले दरवाजा बन्द करके बाहर के चोरों को अन्दर आने से रोका जाय और फिर अन्दर के चोरों से संघर्ष किया जाय। संयम, भावी पापाश्रव को रोकता है और तपश्चरण पहले के संचित कर्मों को क्षय करता है। जहाँ दूसरे धर्म केवल तप पर बल देते हैं वहां जैन-धर्म संयम को अधिक महत्त्व देता है। जैन-धम की सामायिक वह संयम की साधना है, जो भविष्य में आनेवाले पापाश्रव को रोक कर फिर अन्दर में कर्मों से लड़ने की कला है। यह युद्ध-कला ही वस्तुतः मुक्ति के साम्राज्य पर अधिकार करा सकती है।

सामायिक का बहुत बड़ा महत्त्व है। वह आवश्यक का आदि-मंगल है। अखिल मंगल का मूल निर्वाण है, और यह निर्वाण सामायिक के द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः सामायिक मङ्गल है। आचार्य जिनदास कहते हैं—**आदिमंगलं सामाइयज्झयणं।''''सव्व मंगल-निहाणं निव्वाणं पाविहितित्तिकाऊण सामाइयज्झयणं मंगलं भवति।'**—आवश्यक-चूर्णि। सामायिक विश्व के सब प्राणियों के प्रति समता की साधना है। और यह समता ही वस्तुतः सब मंगलों का निधान है। अस्तु, समभाव की दृष्टि से भी सामायिक आदिमंगल है। **'जो य समभावो सो कहं सव्वमंगलनिधाणं ण भविस्सति?'**

—आवश्यक चूर्णि।

सामायिक की उत्कृष्ट साधना का तो कहना ही क्या है? यदि जघन्यरूप से भी सामायिक रूप समभाव का स्पर्श कर लिया जाय तो साधक संसार का अन्त कर देता है, सात-आठ जन्म से अधिक जन्म नहीं ग्रहण करता है। **'सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ।'**

[illegible] ८ । १० । क्या हम प्रभु महावीर के उक्त प्रवचन [illegible]
[illegible] हैं ? नहीं रखते हैं तो सामायिक से पराङ्मुख [illegible]
[illegible] भी हितावह नहीं है । हमारे जीवन की [illegible]
[illegible] का नाद झंकृत रहना चाहिए, तभी [illegible]
[illegible] बना सकते हैं ।

[illegible] का सामायिक धर्म बहुत विराट एवं व्यापक [illegible]
[illegible] अतः सामायिक न किसी की जात [illegible]
[illegible] पूछता है, और न मत एवं पंथ ही [illegible]
[illegible] से विशुद्ध जीवन की बात पूछता है [illegible]
[illegible] देश और पंथ से ऊपर की भूमिका [illegible]
[illegible] हाथी पर बैठे हुए सामायि[illegible]
[illegible] । इला पुत्र एक नट था, जो बाँ[illegible]
[illegible] अन्तर्जीवन में समभाव की एक नन्ही [illegible]
[illegible] कि अन्तर्मुहूर्त में ही [illegible]
[illegible] । यह चमत्कार है सामायिक [illegible]
[illegible] में ही होता है, अन्यत्र नहीं, यह [illegible]
[illegible] । सामायिक [illegible] में नहीं, समभा[illegible]
[illegible] । [illegible] के प्रसंग पर [illegible]
[illegible] यह [illegible] अन्तर्जीवन की ज्योति [illegible]
[illegible] में बाँधना सामायिक का [illegible]
[illegible] सामायिक का अपमान [illegible]
[illegible] को लेकर एक महत्त्वपूर्ण [illegible]
[illegible] की अपेक्षा [illegible] को अधिक महत्त्व देना [illegible]
[illegible] प्रस्फुटित हो सकती है ।
[illegible] होना चाहिए ।
[illegible] है ।

सामाइयसंजएणं भंते ! किं सलिंगे होज्जा, अन्नलिंगे होज्जा, गिहिलिंगे होज्जा ?

दव्वलिंगं पडुच्च सलिंगे वा होज्जा, अन्नलिंगे वा होज्जा, गिहिलिंगे वा होज्जा। भावलिंगं पडुच्च नियमा सलिंगे होज्जा।

—भग० २५। ७।

सामायिक के सम्बन्ध में आजकल एक बहुत भ्रान्तिपूर्ण मत चल रहा है। वह यह कि सामायिक की साधना केवल अभावात्मक साधना है। उसमें हिंसा नहीं करना, इस प्रकार 'न' के ऊपर ही बल दिया गया है। अतः सामायिक की साधना करने वाला गृहस्थ तथा साधु किसी की रक्षा के लिए, किसी जीव को मरने से बचाने के लिए, कोई विधानात्मक प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

यह प्रश्न व्यर्थ ही उठ खड़ा हुआ है! यदि जैन-आगम-साहित्य का भली भाँति अवलोकन किया जाता तो इस प्रश्न की उत्पत्ति के लिए अवकाश ही न रहता। कोई भी विधि-मार्ग अर्थात् साधना-पथ अभावात्मक नहीं हो सकता। निषेध के साथ विधि अवश्य ही रहती है। झूठ नहीं बोलना, इस वाक्य का अर्थ होता है—असत्य का निषेध और सत्य का विधान। अब आप समझ सकते हैं–सत्य की साधना केवल निषेधात्मक नहीं है, प्रत्युत विधानात्मक भी है। इसी प्रकार अहिंसा आदि की साधना का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। सामायिक में पापाचार का निषेध किया है, धर्माचार का नहीं। किसी जीव को मरने से बचाना धर्माचार है, अतः सामायिक में उसका निषेध नहीं। आवश्यक-अवचूरि में सामायिक का निर्वचन करते हुए कहा है—

"सामाइयं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं,
निरवज्ज - जोग - पडिसेवणं च।"

—'सावद्य योगों का त्याग करना और निरवद्य योगों में प्रवृत्ति करना ही सामायिक है।'

मैं पूछता हूँ किसी भी दुर्बल की रक्षा करना, किसी गिरते हुए जीव को सहारा देकर बचा लेना, किसी मारते हुए सबल को रोककर निर्बल की हत्या न होने देना, इस में कौन-सा सावद्य योग है? कौन-सा पापकर्म है? प्रत्युत मन में निःस्वार्थ करुणा-भाव का संचार होने से यह तो सम्यक्त्व की शुद्धि का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है! अनुकम्पा हृदय-क्षेत्र की वह पवित्र गंगा है, जो पापमल को बहाकर साफ कर देती है। अनुकम्पा के बिना सामायिक का कुछ भी अर्थ नहीं है। अनुकम्पा के अभाव में सामायिक की स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे ज्योतिर्हीन दीपक की स्थिति! ज्योतिर्हीन दीपक, दीपक नहीं, मात्र मिट्टी का पिंड है। सामायिक का सच्चा अधिकारी ही वह होता है, जो अनुकम्पा के अमृतरस से भरपूर होता है। आचार्य हरिभद्र आवश्यक बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—'अनुकम्पा-प्रवणचित्तो जीवः सामायिकं लभते, शुभपरिणामयुक्तत्वाद् वैद्यवत्।'

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक-निर्युक्ति में सामायिक के सामायिक, समयिक, सम्यवाद आदि आठ नामों का उल्लेख किया है। उसमें से समयिक शब्द का अर्थ भी सब जीवों पर सम्यक्रूप से दया करना है। आचार्य हरिभद्र समयिक की व्युत्पत्ति करते हैं—'समिति सम्यक् शब्दार्थ उपसर्गः, सम्यगयः समयः—सम्यग् दया-पूर्वकं जीवेषु गमनमित्यर्थः। समयोऽस्यास्तीति, अत इनि ठनौ (पा० ५-२-११५) विति ठन् समयिकम्।'

सामायिक के सम्बन्ध में बहुत लम्बा लिख चुके हैं। इतना लिखना आवश्यक भी था। अधिक जिज्ञासा वाले सज्जन लेखक का सामायिक-सूत्र देख सकते हैं।

: १३ :

चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक

सामायिक आवश्यक को सावद्ययोग-विरति भी कहते है। अनुयोग-द्वार सूत्र में इस नाम का उल्लेख किया गया है। परन्तु प्रश्न है कि यह सावद्ययोग से निवृत्ति शीघ्रतया कैसे प्राप्त हो सकती है?

सावद्य योग से शीघ्रातिशीघ्र निवृत्त होने के लिए, समभाव पर पूर्ण प्रगति प्राप्त करने के लिए, साधक को किसी तदनुरूप ही महत्त्वशाली उच्च आलम्बन की आवश्यकता होती है। किसी वस्तु से निवृत्त होने के लिए उससे निवृत्त होने वालों को अपने समक्ष उपस्थित करने की एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। जब तक कोई महान् आदर्श साधक के सामने उपस्थित न हो तब तक उसका किसी वस्तु से निवृत्त होना कठिन है।

हाँ तो, सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश कौन देते हैं? सावद्य योग की निवृत्ति किन के जीवन में पूर्णतया उतरी है? समभाव रूप सामायिक के संसार में कौन सब से बड़े प्रतिनिधि हैं? आध्यात्मिक-साधना-क्षेत्र पर नजर दौड़ाने के बाद उत्तर है कि [1]तीर्थंकर भगवान्, वीतराग देव!

---

१ जिस साधना के द्वारा संसार सागर पार किया जाता है, वह तीर्थ है। 'संसार-सागरं तरन्ति येन तत्तीर्थम्।' —नन्दीसूत्र-वृत्ति।

तीर्थ धर्म को कहते हैं, अतः जो धर्म का आदिकर्ता है, प्रवर्तक है, वह तीर्थंकर है। 'तीर्थमेव धर्मः, तस्यादिकर्तारस्तीर्थंकराः।'

—आवश्यक-चूर्णि।

यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक, जिसका दूसरा नाम अनुयोग द्वार सूत्र में उत्कीर्तन भी है; सामायिक साधना के लिए आलम्बन-स्वरूप है। चौबीस तीर्थंकर, जो कि त्याग-वैराग्य के, संयम-साधना के महान् आदर्श हैं, उनकी स्तुति करना, उनके गुणों का कीर्तन करना, चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक कहलाता है।

तीर्थंकर देवों की स्तुति से साधक को महान् आध्यात्मिक बल मिलता है, साधना का मार्ग प्रशस्त होता है, जड़ एवं मृत श्रद्धा सजीव एवं स्फूर्तिमती होती है, त्याग तथा वैराग्य का महान् आदर्श आँखों के सामने देदीप्यमान हो उठता है।

तीर्थंकरों की भक्ति के द्वारा साधक अपने औद्धत्य तथा अहंकार का नाश करता है, सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है, फलतः प्रशस्त भावों की, कुशल परिणामों की उपलब्धि करके संचित कर्मों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, [1] जिस प्रकार अग्नि की नन्ही-सी जलती

वर्तमान काल-चक्र में भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। चतुर्विंशतिस्तव के लिए आजकल 'लोगस्स उज्जोयगरे' नामक स्तुति-पाठ का प्रयोग किया जाता है।

१ आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने कहा है—

'भत्तीइ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा।'

—आवश्यक-निर्युक्ति, १०७६

पाप-पराल को पुञ्ज बण्यो अति,
मानो मेरु आकारो।
ते तुम नाम हुताशन सेती,
सहज ही प्रजलत सारो।
पद्मप्रभु पावन नाम तिहारो॥

—विनयचन्द्र चौबीसी।

हुई चिनगारी घास के ढेर को भस्म कर डालती है। कर्मों का नाश हो जाने के बाद आत्मा जब पूर्ण शुद्ध निर्मल हो जाता है, तब वह भक्त की कोटि से भगवान की कोटि में पहुँच जाता हैं। जैन-धर्म का आदर्श है कि प्रत्येक आत्मा अपने अन्तरंग स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा ही है, भगवान् ही है। यह कर्म का, मोहमाया का परदा ही आत्माओं के अखण्ड तेज को अवरुद्ध किए हुए है। जब यह परदा उठा दिया गया तो फिर कुछ भी अन्तर नहीं रहता।

शङ्का हो सकती है कि तीर्थंकर वीतराग देवों के स्मरण तथा स्तुति से हम पापों के बन्धन कैसे काट सकते हैं? किस प्रकार आत्मा से परमात्मा के पद पर पहुँच सकते हैं? शंका जितनी गूढ़ है, उतनी ही आनन्दप्रद भी है। आप देखते हैं बालक नंगे सिर गली में खेल रहा है। वह अपने विचारों के अनुसार जिस बालक को अच्छा समझता है, जिस खेल को ठीक जानता है, उसी का अनुकरण करने लगता है। दूसरे बच्चों को जो कुछ करते देखता है, उसी ओर उसके हाथ पैर भी चंचल हो उठते हैं। बालक बड़ा हुआ, पाठशाला गया, वहाँ अपने सहपाठियों में से किसी को आदर्श विद्यार्थी जान कर उसका अनुकरण करने लगता है। यह देखी हुई बात है कि छोटी श्रेणियों के लिए बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी आचार-व्यवहार में नेता होते हैं। आगे चल कर बड़े लड़कों के लिए उनके अध्यापक आदर्श बनते हैं। मनुष्य, बिना किसी मानसिक आदर्श के क्षण भर भी नहीं रह सकता। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन, मानसिक आदर्शों के प्रति ही गतिशील है, और तो क्या मरते समय भी मनुष्य के जैसे संकल्प होते हैं वैसी ही गति आगे मिलती है। यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है कि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुष यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' हाँ तो, इसी प्रकार उपासक भी अपने अन्तर्हृदय में यदि त्यागमूर्ति तीर्थंकर देवों का स्मरण करेगा तो अवश्य ही उसका आत्मा भी अपूर्व अलौकिक त्याग-वैराग्य की भावनाओं से आलोकित हो

उठेगा। आध्यात्मिक शक्तिशाली महान् आत्माओं का स्मरण करना, वस्तुतः आध्यात्मिक बल के लिए अपनी आत्मा के किवाड़ खोल देना है। तीर्थंकर देव ज्ञान की अपार ज्योति से ज्योतिर्मय हैं, जो भी साधक इनके पास आयगा, इन्हें स्मृति में लायगा, वह अवश्य ज्योतिर्मय बन जायगा। संसार की मोह माया का अन्धकार उसके निकट कदापि कथमपि नहीं फटक सकेगा। '**यादृशी दृष्टि स्तादृशी सृष्टिः।**'

भगवत्स्तुति अंतःकरण का स्नान है। उससे हमें स्फूर्ति, पवित्रता और बल मिलता है। भगवत्स्तुति का अर्थ है उच्च नियमों, सद्गुणों एवं उच्च आदर्शों का स्मरण।

एक बात यहाँ स्पष्ट करने योग्य है। वह यह कि जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसमें काल्पनिक आदर्शों के लिए ज़रा भी स्थान नहीं है। अतः यहाँ प्रार्थना का लम्बा चौड़ा जाल नहीं बिछा हुआ है। और न जैन धर्म का विश्वास ही है कि कोई महापुरुष किसी को कुछ दे सकते हैं। हम महापुरुषों को केवल निमित्त मात्र मानते हैं। उनसे हमें केवल आध्यात्मिक विकास के लिए प्रेरणा मिलती है। ऐसा नहीं होता कि हम स्वयं कुछ न करें और केवल प्रार्थना से सन्तुष्ट परमात्मा हमें अभीष्ट सिद्धि प्रदान करदें। जो लोग भगवान् के सामने गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करते हैं कि—'भगवन्! हम पापी हैं, दुराचारी हैं, तू हमारा उद्धार कर, तेरे बिना हम क्या करें?' वे जैन धर्म के प्रति निधि नहीं हो सकते। स्वयं उठने का यत्न न करके केवल भगवान् से उठाने की प्रार्थना करना सर्वथा निरर्थक है। इस प्रकार की विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने तो मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं नपुंसक बना दिया है। सदाचार की मर्यादा को ऐसी प्रार्थनाओं से बहुत गहरा धक्का लगा है। हज़ारों लोग इन्हीं प्रार्थनाओं के भरोसे परमात्मा को अपना भावी उद्धारक समझ कर मोद मनाते रहते हैं और कभी भी स्वयं पुरुषार्थ के भरोसे सदाचार के पथ पर अग्रसर नहीं होते। अतएव जैन धर्म क्रियात्मक साधना पर जोर देता है। वह भगवान के स्मरण को

बहुत ऊँची चीज मानता है, परन्तु उसे ही सब कुछ नहीं मानता। जैन धर्म की दृष्टि में भगवत्स्तुति हमारी प्रसुप्त अन्तर चेतना को जागृत करने के लिए सहकारी साधन है। हम स्वयं सदाचार के पथ पर चल कर उसे जगाने का प्रयत्न करते हैं। और भगवान की स्तुति हमें आदर्श प्रदान कर प्रेरणास्वरूप बनती है।

जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य जिनदास गणी ने इस सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि—केवल तीर्थंकर देवों की स्तुति करने मात्र से ही मोक्ष एवं समाधि आदि की प्राप्ति नहीं होती है। भक्ति एवं स्तुति के साथ-साथ तप एवं संयम की साधना में उद्यम करना भी अतीव आवश्यक है।

'न केवलाए तित्थगरत्थुतीए एताणि (आरोग्गादीणि) लब्भंति, किंतु तव-संजमुज्जमेण।

—आवश्यक चूर्णि

: १४ :

वन्दन आवश्यक

देव के बाद गुरु का नम्बर है। तीर्थंकर देवों के गुणों का उत्कीर्तन करने के बाद अब साधक [1]गुरुदेव को वन्दन करने की ओर झुकता है। गुरुदेव को वन्दन करने का अर्थ है—गुरुदेव का स्तवन और अभिवादन।[2] मन, वचन, और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार, जिस के द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है, वन्दन कहलाता है। प्राचीन आवश्यक नियुक्ति आदि ग्रन्थों में वन्दन के चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध हैं।

१—संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में 'गुरु' भारी को कहते हैं, अतः जो अपने से अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतरूप गुणों में भारी हो, वजनदार हो, वह सर्व विरति साधु, भले वह स्त्री हो या पुरुष, गुरु कहलाता है। इस कोटि में गणधर से लेकर सामान्य साधु साध्वी सभी संयमी जनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य हेमकीर्ति ने कहा है कि जो सत्य धर्म का उपदेश देता है, वह गुरु है। 'गृणाति-कथयति सद्धर्मतत्त्वं स गुरुः।' तीर्थंकर देवों के नीचे गुरु ही सद्धर्म का उपदेष्टा है।

२ 'वदि' अभिवादनस्तुत्योः, इति कायेन अभिवादने वाचा स्तवने।'

—आवश्यक चूर्णि

वन्दन आवश्यक की शुद्धि के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वन्दनीय कैसे होने चाहिएँ ? वे कितने प्रकार के हैं ? अथच अवन्दनीय कौन हैं ? अवन्दनीय लोगों को वन्दन करने से क्या दोष होता है ? वन्दन करते समय किन-किन दोषों का परिहार करना जरूरी है ? जब तक साधक उपयुक्त विषयों की जानकारी न कर लेगा, तब तक वह कथमपि वन्दनावश्यक के फल का अधिकारी नहीं हो सकता ।

मानव मस्तक बहुत उत्कृष्ट वस्तु है। वह व्यर्थ ही हर किसी के चरणों में रगड़ने के लिए नहीं है। सबके प्रति नम्र रहना और चीज है, और पूज्य समझ कर सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर वन्दना करना, दूसरी चीज है। जैनधर्म गुणों का पूजक है। वह पूज्य व्यक्ति के सद्‌गुण देख कर ही उसके आगे शिर झुकाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र की तो बात दूसरी है। यहाँ जैन इतिहास में तो साधारण सांसारिक गुणहीन व्यक्ति को वन्दन करना भी पाप समझा जाता है। असंयमी को, पतित को वन्दन करने का अर्थ है—पतन को और अधिक उत्तेजन देना। जो समाज इस दिशा में अपना विवेक खो देता है, वह पापाचार, दुराचार को निमंत्रण देता है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि—'जो मनुष्य गुणहीन अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करता है, न तो उस के कर्मों की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही। प्रत्युत असंयम का, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का बन्ध होता है। वह वन्दन व्यर्थ का कायक्लेश है।'

पासत्थाई वंदमाणस्स
नेव कित्ती न निज्जरा होई।
काय-किलेसं एमेव
कुणई तह कम्मबंधं च ॥११०८॥

अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को ही दोष होता है और वन्दन कराने वाले को कुछ पाप नहीं लगता, यह बात नहीं है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि—यदि

अवन्दनीय व्यक्ति गुणी पुरुषों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असंयम में और भी वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है।[1]

जैन धर्म के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र से संपन्न त्यागी, विरागी आचार्य, उपाध्याय, स्थविर एवं गुरु देव आदि ही वन्दनीय हैं। इन्हीं को वन्दना करने से भव्य साधक अपना आत्मकल्याण कर सकता है, अन्यथा नहीं। साधक के लिए वही आदर्श उपयोगी हो सकता है जो बाहर में भी पवित्र एवं महान हो और अन्दर में भी। न केवल बाह्य जीवन की पवित्रता साधारण साधकों के लिए अपने जीवन-निर्माण में आदर्श रूपेण सहायक हो सकती है, और न केवल अंतरंग पवित्रता एवं महत्ता ही। साधक को तो ऐसा गुरुदेव चाहिए, जिस का जीवन निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से पूर्ण हो। आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति की ११३८ वीं गाथा में इस सम्बन्ध में मुद्रा अर्थात् सिक्के की चतुर्भंगी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं संगत दृष्टान्त देते हैंः—

(१) चाँदी यद्यपि शुद्ध हो, किन्तु उस पर मुहर ठीक न लगी होतो वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता। इसी प्रकार भाव चारित्र से युक्त किन्तु द्रव्य लिंग से रहित प्रत्येक बुद्ध आदि मुनि साधकों के द्वारा वन्दनीय नहीं होते।

१—जे बंभचेर - भट्ठा,
पाए उड्डंति बंभयारीणं।
ते होंति कुंट मुंटा,
बोही य सुदुल्लहा तेसिं ॥११०६॥

—आवश्यक निर्युक्ति

—जो पार्श्वस्थ आदि ब्रह्मचर्य अर्थात् संयम से भ्रष्ट हैं, परन्तु अपने को गुरु कहलाते हुए सदाचारी सज्जनों से वन्दन कराते हैं, वे अगले जन्म में अपंग, रोगी, ठूँठ मूँठ होते हैं, और उनको धर्ममार्ग का मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(१) जिस सिक्के पर मुहर तो ठीक लगी हो, परन्तु मूलतः चाँदी अशुद्ध हो, वह सिक्का भी ग्राह्य नहीं माना जाता; उसी प्रकार भाव-चारित्र से हीन केवल द्रव्य लिङ्गी साधु, वस्तुतः कुसाधु ही हैं, अतः वे साधक के द्वारा सर्वथा अवन्दनीय होते हैं। मूल ही नहीं तो व्याज कैसा ? अन्तरङ्ग में भावचारित्र के होने पर ही बाह्य द्रव्य क्रिया काण्ड एवं वेष आदि उपयोगी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

(३) जिस सिक्के की चाँदी भी अशुद्ध हो और मुहर भी ठीक न हो, वह सिक्का तो बाजार में किञ्चित् भी आदर नहीं पाता, प्रत्युत दिखाते ही फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति न भावचारित्र की साधना करता हो और न बाह्य की ही, वह भी आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में आदरणीय नहीं माना जाता।

(४) जिस सिक्के की चाँदी भी शुद्ध हो, और उस पर मुहर भी बिल्कुल ठीक लगी हो, वह सिक्का सर्वत्र अव्याहत गति से प्रसार पाता है, उसका कहीं भी निरादर तथा तिरस्कार नहीं होता। इसी प्रकार जो मुनि द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार के चारित्र से सम्पन्न हों, जो अपनी आत्मसाधना के लिए अन्दर तथा बाहर से एकरूप हों, वे मुनि ही साधना-जगत में अभिवंदनीय माने गये हैं। उन्हीं से साधक कुछ आत्म कल्याण की शिक्षा ग्रहण कर सकता है। वन्दन आवश्यक की साधना के लिए ऐसे ही गुरुदेवों को वन्दन करने की आवश्यकता है।

सुट्ठु तरं नासंती
अप्पाणं जे चरित्तपब्भट्ठा।
गुरुजण वंदाविंती
सुसमण जहुत्तकारिं च ॥१११०॥

—आवश्यक निर्युक्ति

—जो चारित्रभ्रष्ट लोग अपने को यथोक्तकारी, गुणश्रेष्ठ साधक से वन्दन कराते हैं और सद् गुरु होने का ढोंग रचते हैं, वे अपनी आत्मा का सर्वथा नाश कर डालते हैं।

[1]वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है, अहंकार अर्थात् गर्व का (आत्म गौरव का नहीं) नाश होता है, उच्च आदर्शों की झाँकी का स्पष्टतया भान होता है, गुरुजनों की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है, और श्रुत धर्म की आराधना होती है। यह श्रुत धर्म की आराधना आत्मशक्तियों का क्रमिक विकास करती हुई अन्ततोगत्वा मोक्ष का कारण बनती है। भगवती सूत्र में बतलाया गया है कि--'गुरुजनों का सतसंग करने से शास्त्र श्रवण का लाभ होता है; शास्त्र श्रवण से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है, और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम, अनाश्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया अथच सिद्धि का लाभ होता है।'

सवणे णाणे य विण्णाणे,
पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव,
वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥
—[भग० २।५।११२]

गुरु वन्दन की क्रिया बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। साधक को इस ओर उदासीन भाव न रखना चाहिए। मन के कण-कण में भक्ति भावना का विमल स्रोत बहाये बिना वन्दन द्रव्य वन्दन हो जाता है, और वह साधक के जीवन में किसी प्रकार की भी उत्क्रान्ति नहीं ला सकता। जिस वन्दन की पृष्ठ भूमि में भय हो, लज्जा हो, संसार का कोई स्वार्थ हो, वह कभी-कभी आत्मा का इतना पतन करता है कि कुछ पूछिए नहीं।

१—विणओवयार माणस्स
भंजणा पूयणा गुरुजणस्स।
तित्थयराण य आणा,
सुयधम्माराहणा ऽ किरिया॥
—आवश्यक निर्युक्ति १२१५॥

इसी लिए द्रव्य वन्दन का जैन धर्म में निषेध किया गया है। पवित्र भावना के द्वारा उपयोग पूर्वक किया गया भाव वन्दन ही तीसरे आवश्यक का प्राण है। आचार्य मलयगिरि आवश्यक वृत्ति में द्रव्य और भाव-वन्दन की व्याख्या करते हुए कहते हैं—**'द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्त सम्यग् दृष्टेश्च, भावतः सम्यग् दृष्टेरुपयुक्तस्य।'**

आचार्य जिनदास गणी ने आवश्यक चूर्णि में द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन पर दो कथानक दिए हैं। एक कथानक भगवान् अरिष्ट नेमि का समय है। भगवान नेमि के दर्शनों के लिए वासुदेव कृष्ण और उनके मित्र वीरककौलिक पहुँचे। श्री कृष्ण ने भगवान् नेमि और अन्य साधुओं को बड़े ही पवित्र श्रद्धा एवं उच्च भावों से वन्दन किया। वीरककौलिक भी श्रीकृष्ण की देखा देखी उन्हें प्रसन्न करने के लिए पीछे-पीछे वन्दन करता रहा। वन्दन फल के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् नेमि ने कहा कि 'कृष्ण! तुमने भाव वन्दन किया है, अतः तुमने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है और तीर्थंकरगोत्र की शुभ प्रकृति का बन्ध। इतना ही नहीं, तुमने सातवीं, छठी, पाँचवीं और चौथी नरक का बन्धन भी तोड़ दिया है। परन्तु वीरक ने देखा देखी भावना शून्य वन्दन किया है, अतः उसका वन्दन द्रव्यवन्दन होने से निष्फल है। उसका उद्देश्य तुम्हें प्रसन्न करना है, और कुछ नहीं।'

दूसरा कथानक भी इसी युग का है। श्री कृष्णचन्द्र के पुत्रों में से शाम्ब और पालक नामक दो पुत्र वन्दना के इतिहास में सुविश्रुत हैं। शाम्ब बड़ा ही धर्म श्रद्धालु एवं उदार प्रकृति का युवक था। परन्तु पालक बड़ा ही लोभी एवं अभव्य प्रकृति का स्वामी था। एक दिन प्रसंगवश श्रीकृष्ण ने कहा कि 'जो कल प्रातः काल में सर्व प्रथम भगवान् नेमिनाथ जी के दर्शन करेगा, वह जो माँगेगा, दूँगा।' प्रातः काल होने पर शाम्ब ने जागते ही शय्या से नीचे उतर कर भगवान् को भाववन्दन कर लिया। परन्तु पालक राज्य लोभ की मूर्छा से घोड़े पर सवार होकर जहाँ भगवान् का समवसरण था, वहाँ वन्दन करने के

लिए पहुँचा। ऊपर से वन्दन करता रहा, किन्तु अन्दर में आक्रोश की आग जल रही थी। सूर्योदय के पश्चात् श्रीकृष्ण ने पूछा कि 'भगवन्! आज आप को पहले वन्दना किसने की? भगवान् ने उत्तर दिया—'द्रव्य से पालक ने और भाव से शाम्ब ने।' उपहार शाम्ब को प्राप्त हुआ।

पाठक उक्त कथानकों पर से द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन का अन्तर समझ गए होंगे। द्रव्य वन्दन अंधकार है तो भाववन्दन प्रकाश है। भाववन्दन ही आत्मशुद्धि का मार्ग है। केवल द्रव्य वन्दन तो अभव्य भी कर सकता है। परन्तु अकेले द्रव्य वन्दन से होता क्या है? द्रव्य-वन्दन में जबतक भाव का प्राण न डाला जाय तब तक आवश्यकशुद्धि का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

वन्दन क्रिया का उद्देश्य अपने में नम्रता का भाव प्राप्त करना है। जैनधर्म के अनुसार अहंकार नीच गोत्र का कारण है और नम्रता उच्च गोत्र का। वस्तुतः जो नम्र हैं, बड़ों का आदर करते हैं, सद्गुणों के प्रति बहुमान रखते हैं, वे ही उच्च हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। जैनधर्म में विनय एवं नम्रता को तप कहा है। विनय जिनशासन का मूल है—**'विणओ जिणसासणमूलं।'** आचार्य भद्रबाहु ने आवश्य निर्युक्ति में कहा है कि—'जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसको कैसा धर्म और कैसा तप?'

विणओ सासणे मूलं,
विणीओ संजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स,
कओ धम्मो कओ तवो?॥

—आवश्यक नियुक्ति, १२१६।

दशवैकालिक सूत्र में भी विनय का बहुत अधिक गुणगान किया गया है। एक समूचा अध्ययन ही इस विषय के गम्भीर प्रतिपादन के

लिए रक्खा गया है। विनयाध्ययन में वृक्ष का रूपक देते हुए कहा है कि—'जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ, और फिर क्रम से पत्र, पुष्प एवं फल उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार धर्म वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है।'

एवं धम्मस्स विणओ,
मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्ती सुयं सिग्घं,
निस्सेसं चाभिगच्छइ॥

: १५ :

प्रतिक्रमण आवश्यक

जो पाप मन से, वचन से और काय से स्वयं किए जाते हैं, दूसरों से कराए जाते हैं, एवं दूसरों के द्वारा किए हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, इन सब पापों की निवृत्ति के लिए कृत पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है।

प्राचीन जैन-परम्परा के अनुसार प्रतिक्रमण का व्याकरणसम्मत निर्वचन है कि—'प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अयमर्थः—शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।' आचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश की स्वोपज्ञ वृत्ति में यह व्युत्पत्ति की है। इस का भाव यह है कि—शुभयोगों से अशुभ योगों में गए हुए अपने आपको पुनः शुभयोगों में लौटा लाना, प्रतिक्रमण है।

आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यक सूत्र की टीका में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए तीन महत्वपूर्ण प्राचीन श्लोक कथन किए हैं:—

स्वस्थानाद् यत्परस्थानं,
प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः
प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

—प्रमादवश शुभ योग से गिर कर अशुभयोग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभयोग को प्राप्त करना, प्रतिक्रमण है।

क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः॥

रागद्वेषादि औदयिक भाव संसार का मार्ग है और समता, क्षमा, दया, नम्रता आदि क्षायोपशमिक भाव मोक्ष का मार्ग है। अस्तु, क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम्॥

—अशुभयोग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से उत्तरोत्तर प्रत्येक शुभ योग में प्रवृत्त होना ही प्रतिक्रमण है।

साधना क्षेत्र में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अप्रशस्त योग ये चार दोष बहुत भयंकर माने गए हैं। प्रत्येक साधक को इन चार दोषों का प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। मिथ्यात्व को छोड़ कर सम्यक्त्व में आना चाहिए,[1] अविरति का त्याग कर विरति को स्वीकार

१—मिथ्यात्व प्रतिक्रमण का यह भाव है कि—'ज्ञात या अज्ञात रूप में यदि कभी मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया हो, मिथ्यात्व में परिणति की हो तो उसकी आलोचना कर पुनः शुद्ध सम्यक्त्व भाव में उपस्थित होना।'

आचार्य भद्रबाहु ने १२५१ वीं गाथा में संसार प्रतिक्रमण का भी उल्लेख किया है, उसका यह भाव है—'नरकादि गति के कारणभूत महारंभ आदि हेतुओं की आलोचना निन्दा गर्हणा करना।' कुमनुष्य और कुदेव गति के हेतुओं की आलोचना ही करणीय है, शुभ मनुष्य और शुभ देवगति के हेतुओं की नहीं। क्योंकि विनयादि गुण हेय नहीं हैं। 'नवरं शुभनरामरायुर्हेतुभ्यो मायाघनासेवनादिलक्षणेभ्यो निराशंसेनैव अपवर्गाभिलाषिणापि न प्रतिक्रान्तव्यम्।'

—आचार्य हरिभद्र

करना चाहिए, कषाय का परिहार कर क्षमा आदि धारण करना चाहिए, और संसार की वृद्धि करने वाले अशुभ व्यापारों को छोड़ कर शुभ योगों को अपनाना चाहिए:—

मिच्छत्त-पडिक्कमणं,
तहेव असंजमे य पडिक्कमणं।
कसायाण पडिक्कमणं,
जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥१२५०॥

—आवश्यक निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु स्वामी, आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में बहुत गम्भीर विचार धारा उपस्थित करते हैं। उन्होंने साधक के लिए चार विषयों का प्रतिक्रमण बतलाया है। आचार्यश्री के ये चार कारण सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करने योग्य हैं—

(१) हिंसा, असत्य आदि जिन पाप कर्मों का श्रावक तथा साधु के लिए प्रतिषेध किया गया है; यदि कभी भ्रान्तिवश वे कर्म कर लिए जायँ तो प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(२) शास्त्र स्वाध्याय, प्रतिलेखना, सामायिक आदि जिन कार्यों के करने का शास्त्र में विधान किया है, उनके न किए जाने पर भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। कर्तव्य कर्म को न करना भी एक पाप ही है।

(३) शास्त्र-प्रतिपादित आत्मादि तत्त्वों की सत्यता के विषय में सन्देह लाने पर, अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह मानसिक शुद्धि का प्रतिक्रमण है।

(४) आगमविरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करने पर, अर्थात् हिंसा आदि के समर्थक विचारों की प्ररूपणा करने पर भी अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह वचन शुद्धि का प्रतिक्रमण है।

पडिसिद्धाणं करणे,
किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा,
विवरीयपरूवणाए अ ॥ १२६८॥

सामान्यरूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का है—द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। मुमुक्षु साधकों के लिए भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं। उपयोग शून्य प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार केवल यश आदि के लिए दिखावे के रूप में किया जाने वाला प्रतिक्रमण भी द्रव्य प्रतिक्रमण ही है। दोषों का एक बार प्रतिक्रमण करने के बाद पुनः-पुनः उन दोषों का सेवन करना और फिर उन दोषों की शुद्धि के लिए बराबर प्रतिक्रमण करते रहना, यथार्थ प्रतिक्रमण नहीं माना जाता। इस प्रकार के प्रतिक्रमण से आत्म-शुद्धि होने के बदले धृष्टता द्वारा दोषों की वृद्धि ही होती है, न्यूनता नहीं। जो साधक बार-बार दोष सेवन करते हैं और फिर बार-बार उनका प्रतिक्रमण करते हैं, उनकी स्थिति ठीक उस क्षुल्लक साधू जैसी है—जो कंकर का निशाना मार कर बार बार कुम्हार के चाक से उतरते हुए कच्चे बर्तनों को फोडता था और कुम्हार के कहने पर बार-बार 'मिच्छामि दुक्कड़' कह कर क्षमा माँग लेता था। अस्तु, संयम में लगे हुए दोषों की सरल भावों से प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करना, और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत जागरूक रहना ही प्रतिक्रमण का वास्तविक उद्देश्य है। प्रतिक्रमण का अर्थ है पापों से भीति रखना। यदि पापों से डर ही नहीं हुआ, आत्मा पहले की भाँति ही स्वच्छन्द दोषों की ओर प्रधावित होता रहा तो फिर वह प्रतिक्रमण ही क्या हुआ? भावप्रतिक्रमण त्रिविधं त्रिविधेन होता है, अतः उसमें दोष-प्रवेश के लिए अणुमात्र भी अवकाश नहीं रहता। पापाचरण का सर्वथा भावेन प्रायश्चित हो जाता है, और आत्मा पुनः अपनी शुद्ध स्थिति में पहुँच जाता है। भाव प्रतिक्रमण के लिए

आचार्य जिनदास कहते हैं—'भावपडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुणजुतस्स पडिक्कमणं ति।' आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—

भाव-पडिक्कमणं पुण,
तिविहं तिविहेण नेयव्व॥१२५१॥

आचार्य हरिभद्र ने उक्त निर्युक्ति गाथा पर विवेचन करते हुए एक गाथा उद्धृत की है, जिसका यह भाव है कि मन, वचन एवं काय से मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भावों में न स्वयं गमन करना, न दूसरों को गमन कराना, न गमन करने वालों का अनुमोदन करना ही भाव प्रतिक्रमण है।

"मिच्छत्ताइ ण गच्छइ,
ण य गच्छावेइ णाणुजाणेई।
जं मण-वय - काएहिं,
तं भणियं भावपडिक्कमणं॥"

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में काल के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का बताया है:—

(१) भूत काल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।
(२) वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना।
(३) प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को अवरुद्ध करना।

उपर्युक्त प्रतिक्रमण की त्रिकाल-विषयता पर प्रश्न है कि—प्रतिक्रमण तो भूतकालिक माना जाता है, वह त्रिकालविषयक कैसे हो सकता है? उत्तर में निवेदन है कि प्रतिक्रमण शब्द का मौलिक अर्थ अशुभ-योग की निवृत्ति है। आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति में यही भाव व्यक्त करते हैं—'प्रतिक्रमण शब्दोऽशुभयोग निवृत्तिमात्रार्थः।' अस्तु निन्दा द्वारा भूतकालिक अशुभयोग की निवृत्ति होती है, अतः यह अतीत प्रतिक्रमण है। संवर के द्वारा वर्तमान कालविषयक अशुभयोगों की निवृत्ति होती है, अतः यह वर्तमान प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान के द्वारा भविष्यत्कालीन अशुभ योगों की निवृत्ति होती है अतः यह भविष्यकालीन प्रति क्रमण माना जाता है।[1] भगवती सूत्र में भी कहा है "**अइयं पडिक्कमेइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ।**"

विशेषकाल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच भेद भी माने गए है—'दैवसिक, रात्रिक पाक्षिक, चातुर्मासिक, और सांवत्सरिक।

(१) **दैवसिक**—प्रतिदिन सायंकाल के समय दिन भर के पापों की आलोचना करना।

(२) **रात्रिक**—प्रतिदिन प्रातःकाल के समय रात्रि भर के पापों की आलोचना करना।

(३) **पाक्षिक**—महीने में दो बार अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पक्ष भर के पापों की आलोचना करना।

(४) **चातुर्मासिक**—चार चार महीने के बाद कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने भर के पापों की आलोचना करना।

(५) **सांवत्सरिक**—प्रत्येक वर्ष प्रतिक्रमणकालीन आषाढ़ी पूर्णिमा से पचास दिन बाद भाद्रपदशुक्ला पंचमी के दिन वर्ष भर के पापों की आलोचना करना।

एक प्रश्न है कि जब प्रतिदिन प्रातः सायं दो बार तो प्रतिक्रमण हो ही जाता है, फिर ये पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्यों किए जाते हैं? दैवसिक और रात्रिक ही तो अतिचार होते हैं, और उनकी शुद्धि प्रतिदिन दैवसिक तथा रात्रिक प्रतिक्रमण के द्वारा हो ही जाती है?

१—'प्रतिक्रमण—शब्दो हि अत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थः सामान्यतः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेवेति, प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरद्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेव, अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति।' —आचार्य हरिभद्र

प्रश्न सुन्दर है। उत्तर में निवेदन है कि [1]गृहस्थ लोग प्रति दिन अपने घरों में झाड़ू लगाते हैं और कूड़ा साफ करते हैं। परन्तु कितनी ही सावधानी से झाड़ू दी जाय, फिर भी थोड़ी बहुत धूल रह ही जाती है, जो किसी विशेष पर्व अर्थात् त्योहार आदि के दिन साफ की जाती है। इसी प्रकार प्रति दिन प्रतिक्रमण करते हुए भी कुछ भूलों का प्रमार्जन करना बाकी रह ही जाता है, जिसके लिए पाक्षिक प्रतिक्रमण किया जाता है। पक्षभर की भी जो भूलें रह जायँ उनके लिए चातुर्मासिक प्रतिक्रमण का विधान है। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण से भी अवशिष्ट रही हुई अशुद्धि, सांवत्सरिक क्षमापना के दिन प्रतिक्रमण करके दूर की जाती है।

स्थानाङ्ग सूत्र के षष्ठ स्थान के ५३८ वें सूत्र में छह प्रकार का प्रतिक्रमण बतलाया है :—

(१) उच्चार प्रतिक्रमण—उपयोगपूर्वक बड़ी नीत का=पुरीष का त्याग करने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना, उच्चार प्रतिक्रमण है।

(२) प्रश्रवण प्रतिक्रमण—उपयोगपूर्वक लघुनीत अर्थात् पेशाब करने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना, प्रश्रवण प्रतिक्रमण है।

(३) इत्वर प्रतिक्रमण—दैवसिक तथा रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना, इत्वर प्रतिक्रमण है।

(४) यावत्कथिक प्रतिक्रमण—महाव्रत आदि के रूप में यावज्जीवन के लिए पाप से निवृत्ति करना, यावत्कथिक प्रतिक्रमण है।

१—'णणु देवसियं रातियं पडिक्कंतो किमितिपक्खिय-चाउम्मासिय-संवत्सरिएसु विसेसेणं पडिक्कमति? ....जथा लोगे गेहं दिवसे दिवसे पमज्जितं पि पक्खादिसु अब्भधितं उवलेवणपमज्जणादीहिं सज्जिज्जति। एवमिहा वि वयसोहणविसेसे कीरति त्ति।'

—आवश्यक चूर्णि

(५) यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण—संयम में सावधान रहते हुए भी साधु से यदि प्रमादवश तथा आवश्यक प्रवृत्तिवश असंयमरूप कोई आचरण हो जाय तो अपनी भूल को स्वीकार करते हुए उसी समय पश्चात्ताप पूर्वक 'मिच्छामि दुक्कडं' देना, यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है।

(६) स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—सोकर उठने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है। अथवा विकारवासना रूप कुस्वप्न देखने पर उसका प्रतिक्रमण करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक नियुक्ति में प्रतिक्रमण के प्रतिचरणा आदि आठ पर्याय कथन किए हैं। यद्यपि आठों पर्याय शब्द-रूप में पृथक् पृथक् हैं, परन्तु भाव की दृष्टि से प्रायः एक ही हैं।

पडिकमणं पडियरणा,
परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही,
पडिकमणं अट्ठहा होइ ॥१२३३॥

(१) प्रतिक्रमण—'प्रति' उपसर्ग है 'क्रमु' धातु है। प्रति का अर्थ प्रतिकूल है, और क्रम् का अर्थ पदनिक्षेप है। दोनों का मिलकर अर्थ होता है कि जिन कदमों से बाहर गया है उन्हीं कदमों से वापस लौट आए। जो साधक किसी प्रमाद के कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप स्व-स्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयमरूप पर-स्थान में चला गया हो, उसका पुनः स्वस्थान में लौट आना प्रतिक्रमण है। पापक्षेत्र से वापस आत्म शुद्धि क्षेत्र में लौट आने को प्रतिक्रमण कहते हैं। आचार्य जिनदास कहते हैं—'पडिक्कमणं पुनरावृत्तिः।'

(२) प्रतिचरणा—अहिंसा, सत्य आदि संयमक्षेत्र में भली प्रकार विचरण करना, अग्रसर होना, प्रतिचरणा है। अर्थात् असंयम क्षेत्र से दूर-दूर बचते हुए सावधानतापूर्वक संयम को विशुद्ध एवं निर्दोष पालन

करना, प्रतिचरणा है। आचार्य जिनदास कहते हैं—'अत्यादरात्चरणा पडिचरणा अकार्य-परिहारः कार्यप्रवृत्तिश्च।'

(३) **परिहरणा**—सब प्रकार से अशुभ योगों का, दुर्ध्यानों का, दुराचरणों का त्याग करना, परिहरणा है। संयममार्ग पर चलते हुए आसपास अनेक प्रकार के प्रलोभन आते हैं, विघ्न आते हैं, यदि साधक परिहरणा न रखे तो ठोकर खा सकता है, पथ भ्रष्ट होसकता है।

(४) **वारणा**—वारणा का अर्थ निषेध है। महासार्थवाह वीतराग देव ने साधकों को विषय भोग रूप विष वृक्षों के पास जाने से रोका है। अतः जो साधक इस निषेधाज्ञा पर चलते हैं, अपने को विषयभोग से बचाकर रखते हैं, वे सकुशल संसार वन को पार कर मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं। 'आत्म निवारणा वारणा।

(५) **निवृत्ति**—अशुभ अर्थात् पापाचरण रूप अकार्य से निवृत्त होना, निवृत्ति है। साधक को कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। यदि कभी प्रमाद दशा में चला भी जाए तो शीघ्र ही अप्रमाद भाव में लौट आना चाहिए। आचार्य जिनदास कहते हैं—'असुभभाव-नियत्तणं नियत्ती।'

(६) **निन्दा**—अपने आत्मदेव की साक्षी से ही पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना, उसके लिए पश्चात्ताप करना निंदा है। पाप को बुरा समझते हो तो चुपचाप क्यों रहते हो? अपने मन में ही उस अशुभ संकल्प एवं अशुभ आचरण को धिक्कार दो, ताकि वह मन का मैल धुलकर साफ हो जाय। साधनाकाल में संसार की ओर से बड़ी भारी पूजा प्रतिष्ठा मिलती है। इस स्थिति में साधक यदि अहंकार के चक्र में पड़ गया तो सर्वनाश है। अतः साधक का प्रतिदिन विचारना है और अपने आत्मा से कहना है कि—'तू वही नरक तिर्यञ्च आदि कुगति में भटकने वाला पामर प्राणी है। यह मनुष्य जन्म बड़े पुण्योदय से मिला है। और यह सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय का ही प्रताप है कि तू इस उच्च स्थिति में है। देखना, कहीं भटक न जाना! तू ने अमुक-अमुक

भूलें की हैं और फिर भी यह साधुता का गर्व है? धिक्कार है तेरी इस नीच मनोवृत्ति पर।'

(७) गर्हा—गुरुदेव तथा किसी भी अन्य अनुभवी साधक के समक्ष अपने पापों की निन्दा करना गर्हा है। गर्हा के द्वारा मिथ्याभिमान चूर-चूर हो जाता है। दूसरों के समक्ष अपनी भूल प्रकट करना कुछ सहज बात नहीं है। जबतक हृदय में पश्चात्ताप का तीव्र वेग न हो, आत्मशुद्धि का दृढ़ संकल्प न हो, पापाचार के प्रति उत्कट घृणा न हो, तबतक अपराध मन में ही छुपा बैठा रहता है, वह किसी भी दशा में बाहर आने के लिए जिह्वा के द्वार पर नहीं आता। अतएव तीव्र पश्चात्ताप के द्वारा दूसरों के समक्ष पापों की आलोचना रूप गर्हा पाप प्रक्षालन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। जिस प्रकार अमृतौषधि से विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार गर्हा के द्वारा दोषरूप विष भी पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है।

(८) शुद्धि—शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। जिस प्रकार वस्त्र पर लगे हुए तैल आदि के दाग को साबुन आदि से धोकर साफ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर लगे हुए दोषों को आलोचना, निन्दा, गर्हा तथा तपश्चरण आदि धर्म-साधना से धोकर साफ किया जाता है। प्रतिक्रमण आत्मा पर लगे दोषरूप दागों को धो डालने की साधना है, अतः वह शुद्धि भी कहलाता है।

प्रतिक्रमण जैन-साधना का प्राण है। जैन साधक के जीवन क्षेत्र का कोना-कोना प्रतिक्रमण के महा प्रकाश से प्रकाशित है। शौच, पेशाब, प्रतिलेखना, वसति का प्रमार्जन, गोचरी, भोजन पान, मार्ग में गमन, शयन, स्वाध्याय, भक्तपान का परिष्ठापन, इत्यादि कोई भी क्रिया की जाए तो उसके बाद प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। एक स्थान से सौ हाथ तक की दूरी पर जाने और वहाँ फिर एक मुहूर्त भर बैठ कर विश्राम लेना हो तो बैठते ही गमनागमन का प्रतिक्रमण अवश्य करणीय होता है। श्लेष्म और नाक का मल भी डालना हो तो उसका भी प्रतिक्रमण करने का विधान है। भूमि पर एक कदम भी यदि बिना देखे निरुपयोग दशा

करना, प्रतिचरणा है। आचार्य जिनदास कहते हैं—'अत्यादरात्चरणा पडिचरणा अकार्य-परिहारः कार्यप्रवृत्तिश्च।'

(३) परिहरणा—सब प्रकार से अशुभ योगों का, दुर्ध्यानों का, दुराचरणों का त्याग करना, परिहरणा है। संयममार्ग पर चलते हुए, आसपास अनेक प्रकार के प्रलोभन आते हैं, विघ्न आते हैं, यदि साधक परिहरणा न रखे तो ठोकर खा सकता है, पथ भ्रष्ट होसकता है।

(४) वारणा—वारणा का अर्थ निषेध है। महासार्थवाह वीतराग देव ने साधकों को विषय भोग रूप विष वृक्षों के पास जाने से रोका है। अतः जो साधक इस निषेधाज्ञा पर चलते हैं, अपने को विषयभोग से बचाकर रखते हैं, वे सकुशल संसार वन को पार कर मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं। 'आत्म निवारणा वारणा।

(५) निवृत्ति—अशुभ अर्थात् पापाचरण रूप अकार्य से निवृत्त होना, निवृत्ति है। साधक को कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। यदि कभी प्रमाद दशा में चला भी जाए, तो शीघ्र ही अप्रमाद भाव में लौट आना चाहिए। आचार्य जिनदास कहते हैं—'असुभभाव-नियत्तणं नियत्ती।'

(६) निन्दा—अपने आत्मदेव की साक्षी से ही पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना, उसके लिए पश्चात्ताप करना निंदा है। पाप को बुरा समझते हो तो चुपचाप क्यों रहते हो? अपने मन में ही उस अशुभ संकल्प एवं अशुभ आचरण को धिक्कार दो, ताकि वह मन का मैल धुलकर साफ हो जाय। साधनाकाल में संसार की ओर से बड़ी भारी पूजा प्रतिष्ठा मिलती है। इस स्थिति में साधक यदि अहंकार के चक्र में पड़ गया तो सर्वनाश है। अतः साधक का प्रतिदिन विचारना है और अपने आत्मा से कहना है कि—'तू वही नरक तिर्यञ्च आदि कुगति में भटकने वाला पामर प्राणी है। यह मनुष्य जन्म बड़े पुण्योदय से मिला है। और यह सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय का ही प्रताप है कि तू इस उच्च स्थिति में है। देखना, कहीं भटक न जाना! तू ने अमुक-अमुक

भूलें की हैं और फिर भी यह साधुता का गर्व है ? धिक्कार है तेरी इ
नीच मनोवृत्ति पर ।'

(७) गर्हा—गुरुदेव तथा किसी भी अन्य अनुभवी साधक
समक्ष अपने पापों की निन्दा करना गर्हा है । गर्हा के द्वारा मिथ्याभिम
चूर-चूर हो जाता है । दूसरों के समक्ष अपनी भूल प्रकट करना कुछ स
बात नहीं है । जबतक हृदय में पश्चात्ताप का तीव्र वेग न हो, आत्मशु
का दृढ़ संकल्प न हो, पापाचार के प्रति उत्कट घृणा न हो, तबतक
राध मन में ही छुपा बैठा रहता है, वह किसी भी दशा में बाहर
के लिए जिह्वा के द्वार पर नहीं आता । अतएव तीव्र पश्चात्ताप के
दूसरों के समक्ष पापों की आलोचना रूप गर्हा पाप प्रक्षालन का स
साधन है । जिस प्रकार अमृतौषधि से विष दूर हो जाता है, उसी
गर्हा के द्वारा दोषरूप विष भी पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है ।

(८) शुद्धि—शुद्धि का अर्थ निर्मलता है । जिस प्रकार व
लगे हुए तैल आदि के दाग को साबुन आदि से धोकर साफ किय
है, उसी प्रकार आत्मा पर लगे हुए दोषों को आलोचना, निन्द
तथा तपश्चरण आदि धर्म-साधना से धोकर साफ किया जाता है
क्रमण आत्मा पर लगे दोषरूप दागों को धो डालने की सा
अतः वह शुद्धि भी कहलाता है ।

प्रतिक्रमण जैन-साधना का प्राण है । जैन साधक के ज
का कोना-कोना प्रतिक्रमण के महा प्रकाश से प्रकाशित है । शौच
प्रतिलेखना, वसति का प्रमार्जन, गोचरी, भोजन पान, मार्ग
शयन, स्वाध्याय, भक्तपान का परिष्ठापन, इत्यादि कोई भी क्रिय
तो उसके बाद प्रतिक्रमण करना आवश्यक है । एक स्थान
तक की दूरी पर जाने और वहाँ फिर एक मुहूर्त भर बैठ कर
हो तो बैठते ही गमनागमन का प्रतिक्रमण अवश्य करणीय
श्लेष्म और नाक का मल भी डालना हो तो उसका भी प्रति
... यदि बिना देखे नि

में रख दिया हो तो साधु को तदर्थ भी मिच्छामि दुक्कडं देना चाहिए। ज्ञात, अज्ञात तथा सहसाकार आदि किसी भी रूप में कोई भी क्रिया की हो, कोई भी घटना घटी हो, उसके प्रति मिच्छामि दुक्कडं रूप प्रतिक्रमण कर लेने से आत्मा में अप्रमत्तभाव की ज्योति प्रकाशित होती है, अपूर्व आत्मशुद्धि का पथ प्रशस्त होता है और होता है अज्ञान, अविवेक एवं अनवधानता का अन्त।

प्रतिक्रमण का अर्थ है—'यदि किसी कारण विशेष से आत्मा संयम क्षेत्र से असंयम क्षेत्र में चला गया हो तो उसे पुनः संयम क्षेत्र में लौटा लाना।' इस व्याख्या में प्रमाद शब्द विचारणीय है। यदि प्रमाद के स्वरूप का पता लग जाय तो साधक बहुत कुछ उससे बचने की चेष्टा कर सकता है।

प्रवचन सारोद्धार में प्रमाद के निम्नोक्त आठ प्रकार बताए गए हैं:—

(१) अज्ञान—लोक-मूढ़ता आदि।
(२) संशय—जिन-वचनों में सन्देह।
(३) मिथ्या ज्ञान—विपरीत धारणा।
(४) राग—आसक्ति।
(५) द्वेष—घृणा।
(६) स्मृति भ्रंश—भूल हो जाना।
(७) अनादर—संयम के प्रति अनादर।
(८) योगदुष्प्रणिधानता—मन, वचन, शरीर को कुमार्ग में प्रवृत्त करना।

प्रतिक्रमण की साधना प्रमादभाव को दूर करने के लिए है। साधक के जीवन में प्रमाद ही वह विष है, जो अन्दर ही अन्दर साधना को सड़ा-गला कर नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। अतः साधु और श्रावक दोनों का कर्तव्य है कि प्रमाद से बचें और अपनी साधना को प्रतिक्रमण के द्वारा अप्रमत्त स्थिति प्रदान करें।

: १६ :

कायोत्सर्ग-आवश्यक

प्रतिक्रमण-आवश्यक के बाद कायोत्सर्ग का स्थान है। यह आवश्यक भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग का नाम व्रण-चिकित्सा है। धर्म की आराधना करते समय प्रमादवश यदि कहीं अहिंसा एवं सत्य आदि व्रत में जो अतिचार लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं, वे संयम रूप शरीर के घाव हैं। कायोत्सर्ग उन घावों के लिए मरहम का काम देता है। यह वह औषधि है, जो घावों को पुर करती है और संयम शरीर को अक्षत बनाकर परिपुष्ट करती है। जो वस्त्र मलिन हो जाता है, वह किससे धोया जाता है? जल से ही धोया जाता है न? एक बार नहीं, अनेक बार मलमल कर धोया जाता है। इसी प्रकार संयम रूप वस्त्र को जब अतिचारों का मल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं तो उसे प्रतिक्रमण रूप जल से धोया जाता है। फिर भी कुछ अशुद्धि का अंश रह जाता है तो उसे कायोत्सर्ग के उष्ण जल से दुबारा धोया जाता है। यह जल ऐसा जल है, जो जीवन के एक-एक सूत्र से मल के कण-कण को गला कर साफ करता है और संयम जीवन को अच्छी तरह शुद्ध बना देता है।

कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित है। वह पुराने पापों को धोकर साफ कर देता है। आवश्यक सूत्र के उत्तरीकरण सूत्र में यही कहा है कि संयम जीवन को विशेषरूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित करने के लिए, विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को शल्य रहित बनाने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।'

—'तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोही करणेणं, विसल्ली करणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।'

आप प्रश्न करेंगे कि क्या किए हुए पाप भी धोकर साफ किए जा सकते हैं? बिना भोगे हुए भी पापों से छुटकारा हो सकता है? पाप कर्मों के सम्बन्ध में तो यही कहा जाता है कि 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

जैन-धर्म उपर्युक्त धारणा से विरोध रखता है। वह सब पाप कर्मों के भोगने की मान्यता का पक्षपाती नहीं है। किए हुए पापों की शुद्धि न मानें तो फिर यह सब धर्म साधना, तपश्चरण आदि व्यर्थ ही काय-क्लेश होगा। संसार में हम देखते हैं कि अनेक विकृत हुई वस्तुएँ पुनः शुद्ध कर ली जाती हैं तो फिर आत्मा को शुद्ध क्यों नहीं बनाया जा सकता? पाप बड़ा है या आत्मा? पाप की शक्ति बलवती है या धर्म की? धर्म की शक्ति संसार में बड़ी महत्त्व की शक्ति है। उसके समक्ष पाप ठहर नहीं सकते हैं। भगवान के सामने शैतान भला कैसे ठहर सकता है? हमारी आध्यात्मिक शक्ति ही भागवती शक्ति है। उसके समक्ष पापों की आसुरी शक्ति कथमपि नहीं खड़ी रह सकती है। पर्वत की गुहा में हजार-हजार वर्षों से अन्धकार भरा हुआ है। कुछ भी तो नहीं दिखाई देता। जिधर चलते हैं, उधर ही ठोकर खाते हैं। परन्तु ज्यों ही प्रकाश अन्दर पहुँचता है, क्षण भर में अंधकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। धर्म-साधना एक ऐसा ही अप्रतिहत प्रकाश है। भोग-भोग कर कर्मों का नाश कबतक होगा? एकेक आत्मप्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म वर्गणा हैं। इस संक्षिप्त-जीवन में उनका भोग हो भी तो कैसे हो? हाँ तो जैन-धर्म पापों की शुद्धि में विश्वास रखता है। प्रायश्चित्त की अपूर्व शक्ति के द्वारा वह आत्मा की शुद्धि मानता है। भूला-भटका हुआ साधक जब प्रायश्चित कर लेता है तो वह शुद्ध हो जाता है, निष्पाप हो जाता है। फिर वह धर्म में, समाज में, लोक में, परलोक में सर्वत्र आदर का स्थान प्राप्त कर लेता है। वस्त्र पर जबतक अशुद्धि लगी रहती है, तभी

तक उसके प्रति घृणा बनी रहती है। परन्तु जब वह धोकर साफ कर लिया जाता है तो फिर उसी पहले जैसे स्नेह से पहना जाता है। यही बात पाप शुद्धि के लिए किए जाने वाले प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भी है। प्रायश्चित्त के अनेक रूप हैं। जैसा दोष होता है, उसी प्रकार का प्रायश्चित्त उसकी शुद्धि करता है। जीवन व्यवहार में इधर-उधर जो संयम जीवन में भूलें हो जाती हैं, ज्ञात या अज्ञात रूप में कहीं इधर-उधर जो कदम लड़खड़ा जाता है, कायोत्सर्ग उन सब पापों का प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्ग के द्वारा वे सब पाप धुल कर साफ हो जाते हैं[१] फलतः आत्मा शुद्ध निर्मल एवं निष्पाप हो जाता है।

भगवान् महावीर ने पापकर्मों को भार कहा है। जेठ का महीना हो, मंजिल दूर हो, मार्ग ऊँचा नीचा हो, और मस्तक पर मन भर पत्थर का बोझ गर्दन की नस-नस को तोड़ रहा हो, बताइए, यह कितनी विकट स्थिति है? इस स्थिति में भार उतार देने पर मजदूर को कितना आनन्द प्राप्त होता है? यही दशा पापों के भार की भी है। कायोत्सर्ग के द्वारा इस भार को दूर फेंक दिया जाता है। कायोत्सर्ग वह विश्राम भूमि है, जहाँ पाप कर्मों का भार हल्का हो जाता है, सब ओर प्रशस्त धर्म ध्यान का वातावरण तैयार हो जाता है, फलतः आत्मा स्वस्थ, सुखमय एवं आनन्दमय हो जाता है।

'काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहिअए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।

—उत्तराध्ययन २६। १२।

कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं—काय और उत्सर्ग। दोनों का मिल कर अर्थ होता है—काय का त्याग। प्रतिक्रमण करने के बाद साधक अमुक

१—'कायोत्सर्गकरणतः प्रागुपात्तकर्मक्षयः प्रतिपाद्यते।'

—हरिभद्रीय आवश्यक

[illegible] तक उसने शरीर को वोसिरा कर जिनमुद्रा से खड़ा हो जाता है, वह उस समय न संसार के बाह्य पदार्थों में रहता है, न शरीर में [illegible] है, सब ओर से सिमट कर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। [illegible] अन्तमुंख होने की साधना है। अस्तु बहिर्मुख स्थिति से [illegible] इस अन्तर्मुख स्थिति में पहुँचता है तो वह रागद्वेष से बहुत [illegible] उठ जाता है, निःसंग एवं अनासक्त स्थिति का रसास्वादन [illegible] है, शरीर तक की मोहमाया का त्याग कर देता है। इस स्थिति [illegible] भी संकट आए, उसे समभाव से सहन करता है। सरदी हो, [illegible] हो, मच्छर हो, दंश हों, सब पीड़ाओं को समभाव से [illegible] करना ही काय का त्याग है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य शरीर [illegible] की मोहमाया को कम करना है। यह जीवन का मोह, शरीर [illegible] बड़ी ही भयंकर चीज है। साधक के लिए तो विष है। [illegible] की क्या, साधारण संसारी प्राणी भी इस दल-दल में फँस जाने [illegible] किसी अर्थ का नहीं रहता। जो लोग कर्तव्य की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्त्व देते हैं, शरीर की मोहमाया में रचे-पचे रहते हैं, [illegible] इसी के सजाने-सँवारने में लगे रहते हैं, वे समय पर न [illegible] की रक्षा कर सकते हैं, और न समाज एवं राष्ट्र की [illegible]। वे भयंकर संकट काल में अपने जीवन को लेकर भाग खड़े [illegible] हैं, इस स्थिति में परिवार, समाज, राष्ट्र की कुछ भी दुर्गति [illegible]! आज भारत इसी स्थिति में पहुँच गया है। यहाँ [illegible] करोड़ों ही राष्ट्र और धर्म के जीवन को बरबाद कर रहे हैं। [illegible] संघर्ष करने की, और संघर्ष करते-करते अपने आपको [illegible] के लिए होम देने की यहाँ हिम्मत ही नहीं रही है। [illegible] देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को कायोत्सर्ग-सम्बन्धी शिक्षा [illegible] की आवश्यकता है। शरीर और आत्मा को अलग-अलग [illegible] ही राष्ट्र में कर्तव्य की चेतना जगा सकती है। जड़ [illegible] भेद समझे बिना सारी साधना मृत [illegible]

कदम-कदम[1] पर कायोत्सर्ग का स्वर गूँजते रहने में ही आज के धर्म, समाज और राष्ट्र का कल्याण है। कायोत्सर्ग की भावना के विना समय पर महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने तुच्छ स्वार्थों को वलिदान करने का विचार तक नहीं आ सकता। इस जीवन में शरीर का मोह बहुत बड़ा बन्धन है। जीवन की आशा का पाश जन-जन को अपने में उलझाए हुए है। पद-पद पर जीवन का भय कर्तव्य साधना से पराङ्मुख होने की प्रेरणा दे रहा है। आचार्य अकलंक इन सब बन्धनों से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय कायोत्सर्ग को बताते हैं—

—'निःसंग-निर्भयत्व-जीविताशा-व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः।'

—राजवार्तिक ६। २६। १०।

आचार्य अमित गति तो अपने सामायिक पाठ में कायोत्सर्ग के लिए मङ्गलकामना ही कर रहे हैं कि—

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र! कोषादिव खड्ग-यष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः॥२॥

—हे जिनेन्द्र! आप की अपार कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्रकट हो कि मैं अपनी अनन्त शक्ति सम्पन्न, दोष-रहित, निर्मल वीतराग आत्मा को इस क्षणभंगुर शरीर से उसी प्रकार अलग कर सकूँ—अलग समझ सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है।

हाँ तो जैनधर्म के षडावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतन्त्र स्थान इसी ऊपर की भावना को व्यक्त करने के लिए मिला है। प्रत्येक जैन साधक को प्रातः और सायं अर्थात् प्रति-दिन नियमेन कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर

१—'अभिक्खणं काउस्सग्गकारी।' —दशवै० द्वितीय चूलिका

और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करना होता है कि—"यह शरीर और है, और मैं और हूँ। मैं अजर-अमर चैतन्य आत्मा हूँ, मेरा कभी नाश नहीं हो सकता। शरीर का क्या है, आज है, कल न रहे। अस्तु, मैं इस क्षणभंगुर शरीर के मोह में अपने कर्तव्यों से क्यों पराङ्मुख बनूँ? यह मिट्टी का पिंड मेरे लिए एक खिलौना भर है। जब तक यह खिलौना काम देता है, तब तक मैं इससे काम लूँगा, डट कर काम लूँगा। परन्तु जब यह टूटने को होगा, या टूटेगा तो मैं नहीं रोऊँगा। मैं रोऊँ भी क्यों? ऐसे-ऐसे खिलौने अनन्त-अनन्त ग्रहण किए हैं, क्या हुआ उनका? कुछ दिन रहे, टूटे और मिट्टी में मिल गए। इस खिलौने की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। व्यर्थ ही शरीर की हत्या करना, अपने आप में कोई आदर्श नहीं है। वीतराग देव व्यर्थ ही शरीर को दण्ड देने में, उसकी हत्या करने में पाप मानते हैं। परन्तु जब यह शरीर कर्तव्य पथ का रोड़ा बने, जीवन का मोह दिखाकर आदर्श से च्युत करे तो मैं इस रागिनी को सुनने वाला नहीं हूँ। मैं शरीर की अपेक्षा आत्मा की ध्वनि सुनना अधिक पसंद करता हूँ। शरीर मेरा वाहन है। मैं इस पर सवार होकर जीवन-यात्रा का लम्बा पथ तय करने के लिए आया हूँ। परन्तु कभी कभी यह दुष्ट अश्व उलटा मुझ पर सवार होना चाहता है। यदि यह घोड़ा मुझ पर सवार हो गया तो कितनी अभद्र बात होगी? नहीं, मैं ऐसा कभी नहीं होने दूँगा।" यह है कायोत्सर्ग की मूल भावना। प्रति दिन नियमेन शरीर के ममत्व-त्याग का अभ्यास करना, साधक के लिए कितना अधिक महत्त्व पूर्ण है। जो साधक निरन्तर ऐसा कायोत्सर्ग करते रहेंगे, ध्यान करते रहेंगे, वे समय पर अवश्य शरीर की मोहमाया से बच सकेंगे और अपने जीवन के महान् लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सकेंगे। आचार्य सकल कीर्ति कहते हैं—

ममत्वं देहतो नश्येत्,
कायोत्सर्गेण धीमताम्।

निर्ममत्वं भवेन्नूनं,
महाधर्म-सुखाकरम् ॥१८। १८४॥
—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

—कायोत्सर्ग के द्वारा ज्ञानी साधकों का शरीर पर से ममत्वभाव छूट जाता है, और शरीर पर से ममत्वभाव का छूट जाना ही वस्तुतः महान् धर्म और सुख है।

कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में आज की क्या स्थिति है ? इस पर भी प्रसंगानुसार कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। आजकल प्रतिक्रमण करते समय जब ध्यान स्वरूप कायोत्सर्ग किया जाता है, तब मच्छरों से अपने को बचाने के लिए अथवा सरदी आदि से रक्षा करने के लिए शरीर को सब ओर से वस्त्र द्वारा ढक लेते हैं। यह दृश्य बड़ा ही विचित्र होता है। यह ममत्व त्याग का नाटक भी क्या खूब है ? यह कायोत्सर्ग क्या हुआ ? यह तो उल्टा शरीर का मोह है। कायोत्सर्ग तो कष्टों के लिए अपने आपको खुला छोड़ देने में है। कष्ट सहिष्णु होने के लिए अपने को वस्त्र रहित बनाकर नंगे शरीर से कायोत्सर्ग किया जाय तो अधिक उत्तम है। प्राचीन काल में यही परम्परा थी। आचार्य धर्मदास ने उपदेश माला में प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते समय प्रावरण ओढ़ने का निषेध किया है। कायोत्सर्ग करते समय न बोलना है, न हिलना है। एक स्थान पर पत्थर की चट्टान के समान निश्चल एवं निःस्पन्द जिन मुद्रा में दण्डायमान खड़े रहकर अपलक दृष्टि से शरीर का ममत्व वोसराना है, आत्मध्यानमें रमण करना है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में इस ममत्व त्याग पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

वासी-चंदणकप्पो,
जो मरणे जीविए य समसण्णो।
देहे य अपडिबद्धो,
काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥१५४८॥

—चाहे कोई भक्ति भाव से चंदन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश बसौले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु आ जाए; परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, उक्त सब स्थितियों में सम चेतना रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।

तिविहाणुवसग्गाणं,
दिव्वाणं माणुसाण तिरियाणं।
सम्ममहियासणाए,
काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥ १५४९ ॥

—जो साधक कायोत्सर्ग के समय देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च-सम्बन्धी सभी प्रकार के उपसर्गों को सम्यक् रूप से सहन करता है, उसका कायोत्सर्ग ही वस्तुतः शुद्ध होता है।

काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स,
भज्जंति अंग मंगाइं।
इय भिंदंति सुविहिया,
अट्ठविहं कम्म-संघायं ॥ १५५१ ॥

—जिस प्रकार कायोत्सर्ग में निःस्पन्द खड़े हुए अंग-अंग टूटने लगता है, दुखने लगता है, उसी प्रकार सुविहित साधक कायोत्सर्ग के द्वारा आठों ही कर्म समूह को पीडित करते हैं एवं उन्हें नष्ट कर डालते हैं।

अन्नं इमं सरीरं,
अन्नो जीवुत्ति कय-बुद्धी।
दुक्ख परिकिलेसकरं,
छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ १५५२ ॥

—कायोत्सर्ग में शरीर से सब दुःखों की जड़ ममता का सम्बन्ध तोड़ देने के लिए साधक को यह सुदृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि शरीर और है, और आत्मा और है।

कायोत्सर्ग करने वाले सज्जन विचार सकते हैं कि कायोत्सर्ग के लिए कितनी तैयारी की आवश्यकता है, शरीर पर का कितना मोह हटाने की अपेक्षा है। कायोत्सर्ग करते समय पहले से ही शरीर का मोह रखलेना और उसे वस्त्रों से लपेट लेना किसी प्रकार भी न्याय्य नहीं है। ममत्व त्याग के ऊँचे आदर्श के लिए वस्तुतः सच्चे हृदय से ममत्व का त्याग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के लिए ऊपर आचार्य भद्रबाहु के जो उद्धरण दिए गए हैं, उनका उद्देश्य साधक में क्षमता का दृढ़ बल पैदा करना है। उसका यह अर्थ नहीं है कि साधक मिथ्या आग्रह के चक्कर में अज्ञानतावश अपना जीवन ही होम दे। साधक, आखिर एक साधारण मानव हैं। परिस्थितियाँ उसे झकझोर सकती हैं। सभी साधक एक क्षण में ही उस चरम स्थिति में पहुँच सकें, यह असम्भव है। आज ही नहीं, उस युग में भी असम्भव था। मानव जीवन एक पवित्र वस्तु है, उसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही सुरक्षित रखना है या होम देना है। अतः भगवान् ने दुर्बल साधकों के लिए आवश्यक सूत्र में कुछ आगारों की ओर संकेत किया है। कायोत्सर्ग करने से पहले उस आकार सूत्र का पढ़ लेना, साधक के लिए आवश्यक है। खाँसी, छींक, डकार, मूर्च्छा आदि शारीरिक व्याधियों का भी आगार रक्खा जाता है, क्योंकि शरीर शरीर है, व्याधिका मन्दिर है। किसी आकस्मिक कारण से शरीर में कम्पन आजाय तो उस स्थिति में कायोत्सर्ग का भंग नहीं होता है। दीवार या छत आदि गिरने की स्थिति में हों, आग लग जाए, चोर या राजा आदि का उपद्रव हो, अचानक मार काट का उपद्रव उठ खड़ा हो, तब भी कायोत्सर्ग खोलकर इधर-उधर सुरक्षा के लिए प्रबन्ध किया जा सकता है। व्यर्थ ही धर्म का अहंकार रख कर खड़े रहना, और फिर आर्त रौद्र ध्यान की परिणति में मरण तथा प्रहार प्राप्त करना, संयम के लिए घातक चीज है। जैन साधना का मूल उद्देश्य आर्तरौद्र की परिणति को बन्द करना है, अतः जब तक वह परिणति

कायोत्सर्ग के द्वारा बन्द होती है, तब तक कायोत्सर्ग का आलम्बन हित-
कर है। और यदि वह परिणति परिस्थितिवश कायोत्सर्ग समाप्त करने से
बन्द होती हो तो वह मार्ग भी उपादेय है। केवल अपनी रक्षा ही नहीं,
यदि कभी दूसरे जीवों की रक्षा के लिए भी कायोत्सर्ग बीच में खोलना
पड़े तो वह भी आवश्यक है। ध्यानस्थ साधक के सामने पंचेन्द्रिय जीवों
का छेदन-भेदन होता हो, किसी को सर्प आदि डस ले तो तात्कालिक
सहायता करने के लिए जैन परम्परा में ध्यान खोलने की स्पष्टतः आज्ञा
है। क्योंकि वह रक्षा का कार्य कायोत्सर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ है।
आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में इन्हीं ऊपर की भावनाओं का
स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

अगणीओ छिंदिज्ज वा,
वोहियखोभाइ दीहडक्को वा।
आगारेहिं अभग्गो,
उस्सग्गो एवमाईहिं[1] ॥ १५१६ ॥

हाँ, तो जैन धर्म विवेक का धर्म है। जो भी स्थिति विवेक पूर्ण
हो, लाभपूर्ण हो, आर्तरौद्र दुर्ध्यान की परिणति को कम करने वाली हो,
उसी स्थिति को अपनाना जैन धर्म का आदर्श है। पाठक इस का
विचार करें तो अधिक श्रेयस्कर होगा। दुराग्रह में नहीं, सदाग्रह में ही
जैन-धर्म की आत्मा का निवास है।

आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद किए हैं—द्रव्य और भाव।
द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक
स्थान पर जिन मुद्रा से निश्चल एवं निःस्पन्द स्थिति में खड़े रहना।
यह साधना के क्षेत्र में आवश्यक है, परन्तु भाव के साथ। केवल

१—यह गाथा, आगारसूत्रान्तर्गत 'एवमाइएहिं आगारेहिं'
इस पद के स्पष्टीकरण के लिए कही गई है।

द्रव्य का जैनधर्म में कोई महत्त्व नहीं है। एक आचार्य कहता है कि यह द्रव्य तो एकेन्द्रिय वृक्षों एवं पर्वतों में भी मिल सकता है। केवल निःस्पन्द हो जाने में ही साधना का प्राण नहीं है। साधना का प्राण है भाव। भाव कायोत्सर्ग का अर्थ है—आर्त रौद्र दुर्ध्यानों का त्याग कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है। द्रव्य तो ध्यान के लिए भूमिकामात्र है। अतएव आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में कहते हैं—'**सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति, दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।**' और इसी भाव को मुख्यत्व देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में बार-बार कहा गया है कि—'**काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं।**' कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है, परन्तु कौन सा? 'द्रव्य के साथ भाव'।

यह कायोत्सर्ग दो रूप में किया जाता है—एक चेष्टाकायोत्सर्ग तो दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग। चेष्टा कायोत्सर्ग परिमित काल के लिए गमनागमनादि एवं आवश्यक आदि के रूप में प्रायश्चित्त स्वरूप होता है। दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए होता है। उपसर्ग विशेष के आने पर यावज्जीवन के लिए जो सागारी संथारा रूप कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें यह भावना रहती है कि यदि मैं इस उपसर्ग के कारण मर जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए है। यदि मैं जीवित बच जाऊँ तो उपसर्ग रहने तक कायोत्सर्ग है। अभिभव कायोत्सर्ग का दूसरा रूप संस्तारक अर्थात् संथारे का है। यावज्जीवन के लिए संथारा करते समय जो काय का उत्सर्ग किया जाता है वह भव चरिम अर्थात् आमरण अनशन के रूप में होता है। संथारे के बहुत-से भेद हैं, जो मूल आगम साहित्य से अथवा आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। प्रथम चेष्टा कायोत्सर्ग, उस अन्तिम

अभिभव कायोत्सर्ग के लिए अभ्यासस्वरूप होता है। नित्यप्रति कायोत्सर्ग का अभ्यास करते रहने से एक दिन वह आत्मबल प्राप्त हो सकता है, जिसके फलस्वरूप साधक एक दिन मृत्यु के सामने सोल्लास हँसता हुआ खड़ा हो जाता है और मर कर भी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

कायोत्सर्ग के द्रव्य और भाव-स्वरूप को समझने के लिए एक जैनाचार्य कायोत्सर्ग के चार रूपों का निरूपण करते हैं। साधकों की जानकारी के लिए हम यहाँ संक्षेप में उनके विचारों का उल्लेख कर रहे हैं —

(१) **उत्थित उत्थित**—कायोत्सर्ग के लिए खड़ा होने वाला साधक जब द्रव्य के साथ भाव से भी खड़ा होता है, आर्त रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान में रमण करता है, तब उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग होता है। यह कायोत्सर्ग सर्वोत्कृष्ट होता है। इसमें सुप्त आत्मा जागृत होकर कर्मों से युद्ध करने के लिए तन कर खड़ा हो जाता है।

(२) **उत्थित निविष्ट**—जब अयोग्य साधक द्रव्य से तो खड़ा हो जाता है, परन्तु भाव से गिरा रहता है, अर्थात् आर्तरौद्र ध्यान की परिणति में रत रहता है, तब उत्थित-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है। इस में शरीर तो खड़ा रहता है, परन्तु आत्मा बैठी रहती है।

(३) **उपविष्ट उत्थित**—अशक्त तथा वृद्ध साधक खड़ा तो नहीं हो पाता, परन्तु अन्दर में भाव शुद्धि का प्रवाह तीव्र है। अतः जब वह शारीरिक सुविधा की दृष्टि से पद्मासन आदि से बैठ कर धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान में रमण करता है, तब उपविष्ट कायोत्सर्ग होता है। शरीर बैठा है, परन्तु आत्मा खड़ा है।

(४) **उपविष्ट-निविष्ट**—जब आलसी एवं कर्तव्यशून्य साधक शरीर से भी बैठा रहता है और भाव से भी बैठा रहता है, धर्म ध्यान

की ओर न जाकर सांसारिक विषयभोगों की कल्पनाओं में ही उलझा रहता है तब उपविष्ट-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है। यह कायोत्सर्ग नहीं, मात्र कायोत्सर्ग का दम्भ है।

उपर्युक्त कायोत्सर्ग-चतुष्टय में से साधक जीवन के लिए पहला और तीसरा कायोत्सर्ग ही उपादेय है। ये दो कायोत्सर्ग ही वास्तविक रूप में कायोत्सर्ग माने जाते हैं, इनके द्वारा ही जन्म-मरण का बन्धन कटता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँच कर वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है।

: १७ :

प्रत्याख्यान आवश्यक

संसार में जो कुछ भी दृश्य तथा अदृश्य वस्तुसमूह है, वह सब न तो एक व्यक्ति के द्वारा भोगा ही जा सकता है और न भोगने के योग्य ही है। भोग के पीछे पड़कर मनुष्य कदापि शान्ति तथा आनन्द नहीं पा सकता। वास्तविक आत्मानन्द तथा अक्षय शान्ति के लिए भोगों का त्याग करना ही एक मात्र उपाय है। अतएव प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा साधक अपने को व्यर्थ के भोगों से बचाता है, आसक्ति के बन्धन से छुड़ाता है, और स्थायी आत्मिक शान्ति पाने का प्रयत्न करता है।

प्रत्याख्यान का अर्थ है—'त्याग करना।' 'प्रवृत्तिप्रतिकूलतया आमर्यादया ख्यानं [1]प्रत्याख्यानम्।' —योग शास्त्र वृत्ति।

---

१ प्रत्याख्यान में तीन शब्द हैं—प्रति + आ + आख्यान। अविरति एवं असंयम के प्रति अर्थात् प्रतिकूल रूप में, आ अर्थात् मर्यादा स्वरूप आकार के साथ, आख्यान अर्थात् प्रतिज्ञा करना, प्रत्याख्यान है। 'अविरतिस्वरूप प्रभृति प्रतिकूलतया आ मर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं-कथनं प्रत्याख्यानम्।'—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति।

त्यागने योग्य वस्तुएँ द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार की हैं। अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ द्रव्य रूप हैं, अतः इनका त्याग द्रव्य त्याग माना जाता है। अज्ञान, मिथ्यात्व, असंयम तथा कषाय आदि वैभाविक विकार भावरूप हैं, अतः इनका त्याग भावत्याग माना गया है। द्रव्य त्याग की वास्तविक आधारभूमि भावत्याग ही है। अतएव द्रव्य-त्याग तभी प्रत्याख्यान-कोटि में आता है, जबकि वह राग-द्वेष और कषायों को मन्द करने के लिए तथा ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति के लिए किया जाय। जो द्रव्य त्याग भावत्याग पूर्वक नहीं होता है, तथा भाव त्याग के लिए नहीं किया जाता है, उससे आत्म-गुणों का विकास किसी भी अंश में और किसी भी दशा में नहीं हो सकता। प्रत्युत कभी-कभी तो मिथ्याभिमान एवं दंभ के कारण वह अधःपतन का कारण भी बन जाता है।

मानव-जीवन में आसक्ति ही सब दुःखों का मूल कारण है। जब तक आसक्ति है, तब तक किसी भी प्रकार की आत्मशान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। भविष्य की आसक्ति को रोकने के लिए प्रत्याख्यान ही एक अमोघ उपाय है। प्रत्याख्यान के द्वारा ही आशा तृष्णा, लोभ लालच आदि विषय विकारों पर विजय प्राप्त हो सकती है। प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग के द्वारा आत्म शुद्धि हो जाने के बाद पुनः आसक्ति के द्वारा पापकर्म प्रविष्ट न होने पाएँ, इसलिए प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है। एक बार मकान को धूल से साफ करने के बाद दरवाजे बन्द कर देने ठीक होते हैं, ताकि फिर दुबारा धूल न आने पाए।

अनुयोग द्वार सूत्र में प्रत्याख्यान का नाम गुणधारण भी आया है। गुणधारण का अर्थ है—व्रतरूप गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा, मन वचन काय को दुष्ट प्रवृत्तियों से रोक कर शुभ प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करता है। ऐसा करने से इच्छानिरोध, तृष्णाभाव, सुख शान्ति आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं:—

पच्चक्खाणंमि कए,
आसवदाराइं हुंति पिहियाइं।
आसव - वुच्छेएणं,
तण्हा-वुच्छयणं होइ ॥ १५६४ ॥

—प्रत्याख्यान करने से संयम होता है, संयम से आश्रव का निरोध = संवर होता है, आश्रवनिरोध से तृष्णा का नाश होता है।

तण्हा-वोच्छेदेण य,
अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो,
पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ॥१५६५॥

—तृष्णा के नाश से अनुपम उपशमभाव अर्थात् माध्यस्थ्य परिणाम होता है, और अनुपम उपशमभाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है।

तत्तो चरित्तधम्मो,
कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु।
तत्तो केवल-नाणं,
तओ य मुक्खो सया सुक्खो ॥१५६६॥

—उपशमभाव से चारित्र धर्म प्रकट होता है, चारित्र धर्म से कर्मों की निर्जरा होती है, और उससे अपूर्वकरण होता है। पुनः अपूर्वकरण से केवल ज्ञान और केवल ज्ञान से शाश्वत सुखमय मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रत्याख्यान के मुख्यतया दो प्रकार हैं—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तर गुण प्रत्याख्यान। मूल गुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान और देश गुण प्रत्याख्यान। साधुओं के पाँच महाव्रत सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान होते हैं। और गृहस्थों के पाँच अणुव्रत देश गुण प्रत्याख्यान हैं। मूल गुण प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिए ग्रहण किए जाते हैं।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान, प्रतिदिन एवं कुछ दिन के लिए उपयोगी

होते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान और सर्व उत्तर गुण प्रत्याख्यान। तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत, देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान हैं, जो श्रावकों के लिए होते हैं। अनागत आदि दश प्रकार का प्रत्याख्यान, सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान होता है, जो साधु और श्रावक दोनों के लिए है।

अनागत आदि दश प्रत्याख्यान इस भाँति हैं :—

(१) **अनागत**—पर्युषण आदि पर्व में किया जाने वाला विशिष्ट तप उस पर्व से पहले ही कर लेना, ताकि पर्वकाल में ग्लान, वृद्ध आदि की सेवा निर्बाध रूप से की जा सके।

(२) **अतिक्रान्त**—पर्व के दिन वैयावृत्य आदि कार्य में लगे रहने के कारण यदि उपवास आदि तप न हो सका हो तो उसे आगे कभी अपर्व के दिन करना।

(३) **कोटि सहित**—उपवास आदि एक तप जिस दिन पूर्ण हो उसी दिन पारणा किए बिना दूसरा तप प्रारम्भ कर देना, कोटि सहित तप है। कोटि सहित तप में प्रत्याख्यान की आदि और अन्तिम कोटि मिल जाती हैं।

(४) **नियंत्रित**—जिस दिन प्रत्याख्यान करने का संकल्प किया हो उस नियमित दिन में रोग आदि की विशेष अडचन एवं विघ्न बाधा आने पर भी दृढ़ता के साथ वह संकल्पित प्रत्याख्यान कर लेना नियंत्रित प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान प्रायः चतुर्दश पूर्व के धर्ता, जिनकल्पी और दश पूर्व धर मुनि के लिए होता है। आज के युग में इस की परम्परा नहीं है, ऐसा प्राचीन आचार्यों का स्पष्टीकरण है।

(५) **साकार**—प्रत्याख्यान करते समय आकार विशेष अर्थात् अपवाद की छूट रख लेना, साकार तप होता है।

(६) **निराकार**—आकार रक्खे बिना प्रत्याख्यान करना, निराकार तप है। यह दृढ़ धैर्य के बल पर होता है।

(७) परिमाणकृत—दत्ती, ग्रास, भोज्य द्रव्य तथा गृ आदि की संख्या का नियम करना, परिमाणकृत है। जैसे कि इतने दत्तों से तथा इतने ग्रास से अधिक भोजन नहीं लेना।

(८) निरवशेष—अशनादि चतुर्विध आहार का त्याग करना, निरवशेष तप है। निरवशेष का अर्थ है, पूर्ण।

(९) सांकेतिक—संकेतपूर्वक किया जाने वाला प्रत्याख्यान, सांकेतिक है। मुट्ठी बाँधकर या गाँठ बाँधकर यह प्रत्याख्यान करना कि जब तक यह बँधी हुई है तब तक मैं आहार का त्याग करता हूँ। आज कल किया जाने वाला कुल्ले का प्रत्याख्यान भी सांकेतिक प्रत्याख्यान में अन्तर्भूत है। इस प्रत्याख्यान का उद्देश्य अपनी सुगमता के अनुसार विरति का अभ्यास डालना है।

(१०) अद्धा प्रत्याख्यान—समय विशेष की निश्चित मर्यादा वाले नमस्कारिका, पौरुषी आदि दश प्रत्याख्यान, अद्धा प्रत्याख्यान कहलाते हैं। अद्धा काल को कहते हैं।

—भगवतीसूत्र ७। २।

साधना क्षेत्र में प्रत्याख्यान की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। प्रत्याख्यान को पूर्ण विशुद्ध रूप से पालन करने में ही साधक की महत्ता है। छह प्रकार की विशुद्धियों से युक्त पाला हुआ प्रत्याख्यान ही शुद्ध और दोष रहित होता है। ये विशुद्धियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) श्रद्धान विशुद्धि—शास्त्रोक्त विधान के अनुसार पाँच महाव्रत तथा बारह व्रत आदि प्रत्याख्यान का विशुद्ध श्रद्धान करना,

प्रत्याख्यान के समय जितनी वन्दनाओं का विधान है, तदनुसार वन्दना करना विनय विशुद्धि है।

(४) अनुभाषणा शुद्धि—प्रत्याख्यान करते समय गुरु के सम्मुख हाथ जोड़ कर उपस्थित होना; गुरु के कहे अनुसार पाठों को ठीक-ठीक बोलना; तथा गुरु के 'वोसिरेहि' कहने पर 'वोसिरामि' वगैरह यथा समय कहना, अनुभाषणा शुद्धि है।

(५) अनुपालना शुद्धि—भयंकर वन, दुर्भिक्ष, बीमारी आदि में भी व्रत को उत्साह के साथ ठीक-ठीक पालन करना, अनुपालना शुद्धि है।

(६) भाव विशुद्धि—राग, द्वेष तथा परिणाम रूप दोषों से रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान करना तथा पालना, भाव विशुद्धि है।

(१) प्रत्याख्यान से अमुक व्यक्ति की पूजा हो रही है अतः मैं भी ऐसा ही प्रत्याख्यान करूँ—यह राग है।

(२) मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूँ, जिससे सब लोग मेरे प्रति ही अनुरक्त हो जायँ; फलतः अमुक साधु का फिर आदर ही न होने पाए, यह द्वेष है।

(३) ऐहिक तथा पारलौकिक कीर्ति, यश, वैभव आदि किसी भी फल की इच्छा से प्रत्याख्यान करना; परिणाम दोष है।

—आवश्यक निर्युक्ति[१]

---

१ उक्त प्रत्याख्यान शुद्धियों का वर्णन स्थानांग सूत्र के पंचम स्थान में भी है, परन्तु वहाँ ज्ञान शुद्धि का उल्लेख न होकर शेष पाँच का ही उल्लेख है। श्रद्धान शुद्धि में ही ज्ञान शुद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि श्रद्धान के साथ नियमतः ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं। निर्युक्तिकार ने स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ज्ञान शुद्धि का स्वतंत्र रूपेण उल्लेख कर दिया है। 'पंचविहे पच्चक्खाणे पं० तं० सद्दहणासुद्धे, विणयसुद्धे, अणुभासणासुद्धे, अणुपालणासुद्धे, भावसुद्धे।'

—स्थानांग ५। ४६६।

प्रत्याख्यान ग्रहण करने के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण चतुर्भंगी का उल्लेख, आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति में करते हैं। यह[1] चतुर्भंगी भी साधक को जान लेना आवश्यक है।

(१) प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी प्रत्याख्यान स्वरूप का ज्ञाता विवेकी तथा विचारशील हो और प्रत्याख्यान देने वाले गुरुदेव भी गीतार्थ तथा प्रत्याख्यान विधि के भलीभाँति जानकार हों। यह प्रथम भंग है, जो पूर्ण शुद्ध माना जाता है।

(२) प्रत्याख्यान देने वाले गुरुदेव तो गीतार्थ हों, परन्तु शिष्य विवेकी प्रत्याख्यान स्वरूप का जानकार न हो। यह द्वितीय भंग है। यदि गुरुदेव प्रत्याख्यान कराते समय संक्षेप में अबोध शिष्य को प्रत्याख्यान की जानकारी करायें तो यह भंग शुद्ध हो जाता है, अन्यथा अशुद्ध। बिना ज्ञान के प्रत्याख्यान ग्रहण करना, [2]दुष्प्रत्याख्यान माना जाता है।

(३) गुरुदेव प्रत्याख्यानविधिके जानकार न हों, किन्तु शिष्य जानकार हो, यह तीसरा भंग है। गीतार्थ गुरुदेव के अभाव में यदि

१. प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में भी उक्त चतुर्भङ्गी का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है—

'जाणगो जाणगसगासे, अजाणगो जाणग-सगासे, जाणगो अजाणगसगासे, अजाणगो अजाणगसगासे।'

२. भगवती सूत्र में वर्णन है कि जिसको जीव अजीव आदि का ज्ञान है, उसका प्रत्याख्यान तो सुप्रत्याख्यान है। परन्तु जिसे जड़-चैतन्य का कुछ भी पता नहीं है, जो प्रत्याख्यान कर रहा है उसकी कुछ भी जानकारी नहीं है, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान होता है। अज्ञानी साधक प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा करता हुआ सत्य नहीं बोलता है, अपितु झूठ बोलता है। वह असंयत है, अविरत है, पापकर्मा है, एकान्त बाल है। **'एवं खलु से दुप्पच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणो नो सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ…।'**

—भग० ७।२।

केवल साक्षी के तौर पर अगीतार्थ गुरु से अथवा माता पिता आदि से प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाय तो यह भंग शुद्ध माना जाता है। यदि ओघ संज्ञा के रूप में गीतार्थ गुरुदेव के विद्यमान रहते भी अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाय तो यह भंग भी अशुद्ध ही माना गया है।

(४) प्रत्याख्यान लेने वाला भी अगीतार्थ विवेक शून्य हो और प्रत्याख्यान देने वाला गुरु भी शास्त्र-ज्ञान से शून्य अविवेकी हो तो यह चतुर्थ भंग है। यह पूर्ण रूप से अशुद्ध माना जाता है!

यह प्रत्याख्यान आवश्यक संयम की साधना में दीप्ति पैदा करने वाला है, त्याग वैराग्य को दृढ़ करने वाला है, अतः प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि प्रत्याख्यान आवश्यक का यथाविधि पालन करे और अपनी आत्मा का कल्याण करे।

प्रत्याख्यान पर अधिक विवेचन, इस अभिप्राय से किया गया है कि आज के युग में बड़ी भयंकर अन्ध परंपरा चल रही है। जिधर देखिए उधर ही चतुर्थ भंग का राज्य है। न कुछ शिष्य को पता है, और न गुरुदेव नामधारी जीव को ही। एकमात्र 'वोसिरे' के ऊपर अंधाधुन्ध प्रत्याख्यान कराये जा रहे हैं। आशा है, विज्ञ पाठक ऊपर के लेख से प्रत्याख्यान के महत्त्व को समझ सकेंगे।

: १८ :

आवश्यकों का क्रम

जो अन्तर्दृष्टि वाले साधक हैं, उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव अर्थात् सामायिक करना है। उनके प्रत्येक व्यवहार में, रहन-सहन में समभाव के दर्शन होते हैं।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक जब किन्हीं महापुरुषों को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे भक्ति-भाव से गद्गद् होकर उनके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक अतीव नम्र, विनयी एवं गुणानुरागी होते हैं। अतएव वे समभाव स्थित साधु पुरुषों को यथा समय वन्दन करना कभी भी नहीं भूलते।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक इतने अप्रमत्त, जागरूक तथा सावधान रहते हैं कि यदि कभी पूर्ववासनावश अथवा कुसंस्कार वश आत्मा समभाव से गिरजाय तो यथाविधि प्रति क्रमण = आलोचना पश्चात्ताप आदि करके पुनः अपनी पूर्व स्थिति को पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व स्थिति से आगे भी बढ़ जाते हैं।

ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन की कुञ्जी है। इस लिए अन्तर्दृष्टि वाले बार बार ध्यान = कायोत्सर्ग करते हैं। ध्यान से संयम के प्रति एकाग्रता की भावना परिपुष्ट होती है।

ध्यान के द्वारा विशेष चित शुद्धि होने पर आत्मदृष्टि साधक आत्म

स्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अतएव उनके लिए जड़ वस्तुओं के भोग का प्रत्याख्यान करना सहज स्वाभाविक हो जाता है।

जबतक सामायिक प्राप्त न हो = आत्मा समभाव में स्थित न हो, तब तक भावपूर्वक चतुर्विंशतिस्तव किया ही नहीं जा सकता। भला जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है, वह किस प्रकार रागद्वेषरहित समभाव में स्थित वीतराग पुरुषों के गुणों को जान सकता है और उनकी प्रशंसा कर सकता है? अतएव सामायिक के बाद चतुर्विंशति स्तव है।

चतुर्विंशति स्तव करने वाला ही गुरुदेवों को यथाविधि वन्दन कर सकता है। क्योंकि जो मनुष्य अपने इष्ट देव वीतराग महापुरुषों के गुणों से प्रसन्न होकर उनकी स्तुति नहीं कर सकता है, वह किस प्रकार वीतराग तीर्थंकरों की वाणी के उपदेशक गुरुदेवों को भक्तिपूर्वक वन्दन कर सकता है? अतएव वन्दन आवश्यक का स्थान चतुर्विंशति स्तव के बाद रक्खा गया है।

वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि जो राग द्वेष रहित समभावों से गुरुदेवों की स्तुति करने वाले हैं, वेही गुरुदेव की साक्षी से अपने पापों की आलोचना कर सकते हैं, प्रतिक्रमण कर सकते हैं। जो गुरुदेव को वन्दन ही नहीं करेगा, वह किस प्रकार गुरुदेव के प्रति बहुमान रक्खेगा और अपना हृदय स्पष्टतया खोल कर कृत पापों की आलोचना करेगा?

प्रतिक्रमण के द्वारा व्रतों के अतिचार रूप छिद्रों को बंद कर देने वाला, पश्चात्ताप के द्वारा पाप कर्मों की निवृत्ति करने वाला साधक ही कायोत्सर्ग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाय, तब तक धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता। आलोचना के द्वारा चित्त शुद्धि किए बिना जो कायोत्सर्ग करता है, उसके मुँह से चाहे

किसी शब्द विशेष का जप हुआ करे, परन्तु उसके हृदय में उच्च ध्येय का विचार कभी नहीं आता।

जो साधक कायोत्सर्ग के द्वारा विशेष चित्त-शुद्धि, एकाग्रता और आत्मबल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है। जिसने एकाग्रता प्राप्त नहीं की है और संकल्प बल भी उत्पन्न नहीं किया, वह यदि प्रत्याख्यान कर भी ले, तो भी उस का ठीक-ठीक निर्वाह नहीं कर सकता। प्रत्याख्यान सब से ऊपर की आवश्यक क्रिया है। उसके लिए विशिष्ट चित्त शुद्धि और विशेष उत्साह की अपेक्षा है, जो कायोत्सर्ग के बिना पैदा नहीं हो सकते। इसी विचार धारा को सामने रखकर कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान का नंबर पड़ता है।

उपर्युक्त पद्धति से विचार करने पर यह स्पष्टतया जान पड़ता है कि छह आवश्यकों का जो क्रम है, वह विशेष कार्य कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है। चतुर पाठक कितनी भी बुद्धिमानी से उलट फेर करे, परन्तु उसमें वह स्वाभाविकता नहीं रह सकती, जो कि प्रस्तुत क्रम में है।



: १६ :

आवश्यक से लौकिक जीवन की शुद्धि

यह ठीक है कि आवश्यक क्रिया लोकोत्तर साधना है। वह हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र की चीज है। उसके द्वारा हम आत्मा से परमात्मा के पद की ओर अग्रसर होते हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भी आवश्यक की कुछ कम महत्ता नहीं है। यह हमारे साधारण मानव-जीवन में कदम कदम पर सहायक होने वाली साधना है।

अन्य प्राणियों के जीवन की अपेक्षा मानव-जीवन की महत्ता और श्रेष्ठता जिन तत्त्वों पर अवलम्बित है, वे तत्त्व लोक भाषा में इस प्रकार हैं:—

(१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्मिश्रण।

(२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोत्कृष्ट जीवन वाले महापुरुषों का आदर्श।

(३) गुणवानों का बहुमान एवं विनय करना।

(४) कर्तव्य की स्मृति तथा कर्तव्य पालन में हो जाने वाली भूलों का निष्कपट भाव से संशोधन करना।

(५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए विवेक शक्ति का विकास करना।

(६) त्यागवृत्ति द्वारा सन्तोष तथा सहन शीलता को बढ़ाना। भोग ही जीवन उद्देश्य नहीं है, त्यागमय उदारता ही मानव की महत्ता बढ़ाती है। जितना त्याग उतनी ही शान्ति।

उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर ही आवश्यक साधना का महल

रहा है। यदि मनुष्य ठीक-ठीक रूप से आवश्यक साधना को अपनाते रहें तो फिर कभी भी उनका नैतिक जीवन पतित नहीं हो सकता, उनकी प्रतिष्ठा भंग नहीं हो सकती, विकट से विकट प्रसंग पर भी वे अपना लक्ष्य नहीं भूल सकते।

मानव-स्वास्थ्य की आधार शिला मुख्यतया मानसिक प्रसन्नता पर है। यद्यपि दुनिया में अन्य भी अनेक साधन ऐसे हैं, जिनके द्वारा कुछ न कुछ मानसिक प्रसन्नता प्राप्त हो ही जाती है; परन्तु स्थायी मानसिक प्रसन्नता का स्रोत पूर्वोक्त तत्त्वों के आधार पर निर्मित आवश्यक ही है। बाह्य जड़ पदार्थों पर आश्रित प्रसन्नता क्षणिक होती है। असली स्थायी प्रसन्नता अपने अन्दर ही है, और वह अन्दर की साधना के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

अब रहा मनुष्य का कौटुम्बिक अर्थात् पारिवारिक सुख। कुटुम्ब को सुखी बनाने के लिए मनुष्य को नीति प्रधान जीवन बनाना आवश्यक है। इसलिए छोटे बड़े सब में एक दूसरे के प्रति यथोचित विनय, आज्ञा पालन, नियमशीलता, अपनी भूलों को स्वीकार करना एवं अप्रमत्त रहना जरूरी है। ये सब गुण आवश्यक साधना के द्वारा सहज ही में प्राप्त किए जा सकते हैं।

सामाजिक दृष्टि से भी आवश्यक क्रिया उपादेय है। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए विचारशीलता, प्रामाणिकता, दीर्घदर्शिता और गम्भीरता आदि गुणों का जीवन में रहना आवश्यक है। अस्तु, क्या शास्त्रीय और क्या व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक क्रिया का यथोचित अनुष्ठान करना, अतीव लाभप्रद है।

['आवश्यकों का क्रम' और 'आवश्यक से लौकिक जीवन की शुद्धि' उक्त दोनों प्रकरणों के लिए लेखक जैन जगत के महान तत्त्व-चिंतक एवं दार्शनिक पं० सुखलालजी का ऋणी है। पंडित जी के 'पंच प्रति क्रमण' नामक ग्रन्थ से ही उक्त निबन्धद्वय का प्रायः शब्दशः विचारशरीर लिया गया है।]

: २० :

आवश्यक का आध्यात्मिक फल

सामायिक

सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

'भगवन् ! सामायिक करने से इस आत्मा को क्या लाभ होता है ?'
'सामायिक करने से सावद्य योग = पापकर्म से निवृत्ति होती है ।'

चतुर्विंशतिस्तव

चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ।

'भगवन् ! चतुर्विंशतिस्तव से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?'

'चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि होती है ।'

वन्दना

वंदएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ।

'भगवन् ! वन्दन करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?'

'वन्दन करने से यह आत्मा नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है,

उच्चगोत्र का बन्ध करता है, सुभग, सुस्वर आदि सौभाग्य की प्राप्ति होती है, सब उसकी आज्ञा शिरसा स्वीकार करते हैं और वह दाक्षिण्यभाव-कुशलता एवं सर्व प्रियता को प्राप्त करता है।'

प्रतिक्रमण

पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइ पिहेइ, पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबल चरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते उपहुत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ।

'भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?

'प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि व्रतों के दोषरूप छिद्रों का निरोध होता है और छिद्रों का निरोध होने से आत्मा आश्रव का निरोध करता है तथा शुद्ध चारित्र का पालन करता है। और इस प्रकार आठ प्रवचनमाता, पाँच समिति एवं तीन गुप्ति रूप संयम में सावधान, अप्रमत्त तथा सुप्रणिहित होकर विचरण करता है।'

कायोत्सर्ग

काउसग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थधम्मज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।

'भगवन् ! कायोत्सर्ग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?'

'कायोत्सर्ग करने से अतीत काल एवं आसन्न भूतकाल के प्रायश्चित्त-विशोध्य अतिचारों की शुद्धि होती है और इस प्रकार विशुद्धि-प्राप्त आत्मा प्रशस्त धर्मध्यान में रमण करता हुआ इहलोक एवं परलोक में उसी प्रकार सुखपूर्वक विचरण करता है जिस प्रकार सिर का बोझ उतर जाने से मजदूर सुख का अनुभव करता है।'

प्रत्याख्यान

पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छा-निरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए णं जीवे सव्वदव्वेसु विणी-यतण्हे सीईभूए विहरइ।

'भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?'

'प्रत्याख्यान करने से हिंसा आदि आश्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं एवं इच्छा का निरोध हो जाता है, इच्छा का निरोध होने से समस्त विषयों के प्रति वितृष्ण रहता हुआ साधक शान्त-चित्त होकर विचरण करता है।'

[उत्तराध्ययन-सूत्र, २६ वाँ अध्ययन]

: २१ :

प्रतिक्रमण : जीवन की एकरूपता

किस मनुष्य का जीवन ऊँचा है और किस का नीचा? कौन मनुष्य महात्मा है, महान है और कौन दुरात्मा तथा क्षुद्र? इस प्रश्न का उत्तर आपको भिन्न भिन्न रूप में मिलेगा। जो जैसा उत्तर दाता होगा वह वैसा ही कुछ कहेगा। यह मनुष्य की दुर्बलता है कि वह प्रायः अपनी सीमा में घिरा रह कर ही कुछ सोचता है, बोलता है, और करता है।

हाँ तो इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग आपके सामने जात-पाँत को महत्त्व देंगे और कहेंगे कि ब्राह्मण ऊँचा है, क्षत्रिय ऊँचा है, और शूद्र नीचा है, चमार नीचा है, भंगी तो उससे भी नीचा है। ये लोग जात-पाँत के जाल में इस प्रकार अवरुद्ध हो चुके हैं कि कोई ऊँची श्रेणी की बात सोच ही नहीं सकते। जब भी कभी प्रसंग आएगा, एक ही राग अलापेंगे—जात-पाँत का रोना रोयेंगे।

कुछ लोग सम्भव है धन को महत्त्व दें? कैसा ही नीच हो, दुराचारी हो, गुंडा हो, जिसके पास दो पैसे हैं, वह इनकी नजरों में देवता है, ईश्वर का अंश है। राजा और सेठ होना ही इनके लिए सबसे महान् होना है, धर्मात्मा होना है—'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते।' और यदि कोई धनहीन है, गरीब है तो बस सबसे बड़ी नीचता है। गरीब आदमी कितना ही सदाचारी हो, धर्मात्मा हो, कोई पूछ नहीं। 'मुआ दरिद्रा य समा भवन्ति।'

क्यों लम्बी बातें करें, जितने मुँह उतनी बातें हैं! आप तो मुझ से मालूम करना चाहते होंगे कि कहिए, आपका क्या विचार है? भला, मैं अपना क्या विचार बताऊँ? मेरे विचार वे ही हैं, जो भारतीय संस्कृति के निर्माता आत्मतत्त्वावलोकी महापुरुषों के विचार हैं। मैं भी आपकी ही तरह भारतीय साहित्य का एक स्नेही विद्यार्थी हूँ, जो पढ़ता हूँ, कहने को मचल उठता हूँ। हाँ, तो भारतीय संस्कृति के एक अमर गायक ने इस प्रश्न-चर्चा के सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं
कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्
कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार सर्वश्रेष्ठ, महात्मा महान् पुरुष वही है, जो अपने मन में जैसा सोचता है, विचारता है, समझता है, वैसा ही जबान से बोलता है, कहता है। और जो कुछ बोलता है, वही समय पर करता भी है। और इसके विपरीत दुरात्मा, दुष्ट, नीच वह है, जो मन में सोचता कुछ और है, बोलता कुछ और है, और करता कुछ और ही है।

मन का काम है सोचना विचारना। वाणी का काम है बोलना-कहना। और शेष जीवन का काम है, हस्तपादादि का काम है, जो कुछ सोचा और बोला गया है, उसे कार्य का रूप देना, अमली जामा पहनाना। महान् आत्माओं में इन तीनों का सामंजस्य होता है, मेल होता है, और एकता होती है। उनके मन, वाणी और कर्म में एक ही बात पाई जाती है, ज़रा भी अन्तर नहीं होता। न उन्हें दुनिया का धन पथ-भ्रष्ट कर सकता है और न मान अपमान ही। लोग खुश होते हैं या नाराज़, कुछ परवाह नहीं। जीवन है या मरण, कुछ चिन्ता नहीं। भले ही दुनिया इधर से उधर हो जाय, फूलों की वर्षा हो या जलते

अंगारों की ! किसी भी प्रकार के आतंक, भय, प्रेम, प्रलोभन, हानि, लाभ महान् आत्माओं को डिगा नहीं सकते, बदल नहीं सकते । वे हिमालय के समान अचल, अटल, निर्भय, निर्द्वन्द्व रहते हैं । मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी एक ही बात सोचना, बोलना और करना, उनका परम आदर्श है । संसार की कोई भी भली या बुरी शक्ति, उन्हें झुका नहीं सकती, उनके जीवन के टुकड़े नहीं कर सकती ।

परन्तु जो लोग दुर्बल हैं, दुरात्मा हैं, वे कदापि अपने जीवन की एकरूपता को सुरक्षित नहीं रख सकते । उनके मन, वाणी और कर्म तीनों तीन राह पर चलते हैं । ज़रा-सा भय, ज़रा-सा प्रेम, ज़रा-सी हानि, ज़रा-सा लाभ भी उनके कदम उखाड़ देता है । वे एक क्षण में कुछ हैं तो दूसरे क्षण में कुछ । परिस्थितियों के बहाव में बह जाना, हवा के अनुसार अपनी चाल बदल लेना, उनके लिए साधारण-सी बात है । सांसारिक प्रलोभनों से ऊपर उठकर देखना, उन्हें आता ही नहीं । उनका धर्म, पुण्य, ईश्वर, परमात्मा सब कुछ स्वार्थ है, मतलब है । वे जैसे और जितने आदमी मिलेंगे, वैसी ही उतनी ही वाणी बोलेंगे । और जैसे जितने भी प्रसंग मिलेंगे, वैसे ही उतने ही काम करेंगे । अब रहा, सोचना, सो पूछिए नहीं । समुद्र के किनारे खड़े होकर जितनी तरंगें आप देख सकते हैं, उतनी ही उनके मन की तरंगें होती हैं । उनकी आत्मा इतनी चंचल और दुर्बल होती है कि आस-पास के वातावरण का—भय, प्रेम और प्रलोभन आदि का उन पर क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता रहता है ।

जवान हों और हजार ही हाथ पैर। आप हर आदमी के सामने अलग-अलग मन बदलें, जबान बदलें और कर्म बदलें। मानव-जीवन के तीन टुकड़े अलग-अलग करके डाल देने में कौन-सी भलाई है? विभिन्न रूपों और टुकड़ों में बँटा हुआ अव्यवस्थित जीवन, जीवन नहीं होता, लाश होता है। मैं समझता हूँ, आप किसी भी दशा में जीवन की अखंडता को समाप्त नहीं करना चाहेंगे, मुरदा नहीं होना चाहेंगे।

भगवान् महावीर जीवन की एकरूपता पर बहुत अधिक बल देते थे। साधक के सामने सब से पहली पूरी करने योग्य शर्त ही यह थी कि वह हर हालत में जीवन की एक रूपता को बनाए रक्खेगा, उसकी वाणी मन का अनुसरण करेगी तो उसकी चर्या मन-वाणी का अनुधावन!

जैन संस्कृति ने जीवन में बहुरूपिया होना, निन्द्य माना है। आदि काल से मानव जीवन की एकरसता, एकरूपता और अखण्डता ही जैन संस्कृति का अमर आदर्श रहा है। उसके विचार में जितना कलह, जितना द्वन्द्व, जितना पतन है, वह सब जीवन की विषम गति में ही है। ज्योंही जीवन में समगति आएगी, जीवन का संगीत समताल पर मुखरित होगा, त्योंही संसार में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जायगा, अविश्वास विश्वास में बदलेगा और आपस के वैर विरोध विश्वस्त प्रेम एवं सहयोग में परिणत हो जायँगे! भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से मानव की संत्रस्त आत्मा स्वर्गीय दिव्य भावों में पहुँच जायगी।

जीवन की एक रूपता के लिए, देखिए, जैन साहित्य क्या कहता है? दशवैकालिक सूत्र का चतुर्थ अध्ययन हमारे सामने है :—

"से भिक्खु वा भिक्खुणी वा संजय विरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा·······।"

ऊपर के लम्बे पाठ का भावार्थ यह है कि दिन हो या रात, अकेला हो या हजारों की सभा में, सोता हो या जागता साधक अपने

आपको अहिंसा एवं सत्य की साधना में लगाए रक्खे। उस के जीवन का धर्म दिन में अलग, रात में अलग, अकेले में अलग, सभा में अलग, सोते में अलग, जागते में अलग, किसी भी दशा में कदापि अलग-अलग नहीं हो सकता। सच्चे साधक क्षेत्र, काल और जनता को देख कर राह नहीं बदला करते। वे अकेले में भी उतने ही सच्चे और पवित्र रहेंगे, जितने कि हजारों-लाखों की भीड़ में। कैसा भी एकान्त हो, कैसी भी स्थिति अनुकूल हो, वे जीवन पथ से एक कदम भी इधर-उधर नहीं होते।

जैन-धर्म का प्रतिक्रमण, यही जीवन की एक रूपता का पाठ पढ़ाता है। यह जीवन एक संग्राम है, संघर्ष है। दिन और रात अविराम गति से जीवन की दौड़-धूप चल रही है। सावधानी रखते हुए भी मन, वाणी और कर्म में विभिन्नता आ जाती है, अस्तव्यस्तता हो जाती है। अस्तु, दिन में होने वाली अनेकता को सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय एक रूपता दी जाती है और रात में होने वाली अनेकता को प्रातःकालीन प्रतिक्रमण के समय। साधक गुरुदेव या भगवान् की साक्षी से अपनी भटकी हुई आत्मा को स्थिर करता है, भूलों को ध्यान में लाता है, मन, वाणी और कर्म को पश्चात्ताप की आग में डाल कर निखारता है, एक-एक दाग को सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से देखता है और धो डालता है। प्रतिक्रमण करने वालों की परम्परा में न जाने कितने ऐसे महान् साधक हो गए हैं, जो सांवत्सरिक आदि के पवित्र प्रसंगों पर हजारों जनता के सामने अपने एक-एक दोषों को स्पष्ट भाव से कहते चले गए हैं, मन के छुपे जहर को उगलते चले गए हैं। लज्जा और शर्म किसे कहते हैं, कुछ परवाह ही नहीं। धन्य हैं, वे, जो इस प्रकार जीवन की एक रूपता को बनाए रख सकते हैं। मन का कोना-कोना छान डालना, उनके लिए साधना का परम लक्ष्य है। वे अपने जीवन को अपने सामने रखकर उसी प्रकार कठोरता से चीरफाड़ करते हैं, देखभाल करते हैं, जिस प्रकार एक डाक्टर शव

की परीक्षा करता है। जब तक इतना साहस न हो, मन का विश्लेषण करने की धुन न हो, जीवन का शव के समान निर्दय परीक्षण न हो, तब तक साधक जीवन की एक रूपता को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। जैन संस्कृति का प्रतिक्रमण मन, वाणी और कर्म के सन्तुलन को कदापि अव्यवस्थित नहीं होने देता। वह पश्चात्ताप के प्रवाह में पिछले सब दोषों को धोकर आगे के लिए कठोर दृढ़ता के सुन्दर और शुद्ध जीवन का एक नया अध्याय खोलता है। प्रतिक्रमण का स्वर एक ही स्वर है, जो हजारों-लाखों वर्षों से श्रमण संस्कृति की अन्तर्वीणा पर झंकृत होता आया है—**छूटूँ पिछला पाप से, नया न बाँधू कोय।'**

जैन संस्कृति के अमर साधकों ने मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी कभी अपनी राह न बदली, जीवन की एकरूपता भंग न की, प्रतिक्रमण द्वारा प्राप्त होने वाली पवित्र प्रेरणा विस्मृत न की।

श्रावक अर्हन्नक के सामने देवता खड़ा है, जहाज को एक ही झटके में समुद्र के अतल गर्भ में फेंक देने को तैयार है। कह रहा है—'अपना धर्म छोड़ दो, अन्यथा परलोक यात्रा के लिए तैयार हो जाओ। छोड़ूंगा नहीं, समझ लो, क्या उत्तर देना है, हाँ या ना? 'हाँ' में जीवन है तो 'ना' में मृत्यु।'

जीवन की एकरूपता का, प्रतिक्रमण की विराट साधना का वह महान् साधक हँसता है, मुसकराता है। उसकी मुसकराहट, वह मुसकराहट है, जिसके सामने मृत्यु की विभीषिका भी हतप्रभ हो जाती है। वह कहता है—"अरे धर्म भी क्या कोई छोड़ने की चीज है? धर्म तो मेरे अणु-अणु में रम गया है, मैं छोड़ना चाहूँ तो भी वह नहीं छुट सकता। और यह मृत्यु! इसका भी कुछ डर है? तेरी शक्ति, संभव है, शरीर को दल सके। परन्तु आत्मा! अरे वहाँ तो तेरे जैसे लाखों-करोड़ों देव भी कुछ नहीं कर सकते। आत्मा अजर है, अमर है, अखण्ड है। तू अनन्त जन्म ले तब भी मेरी आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। अतः, मैं

तुझ से और तेरी ओर से दी जाने वाली मृत्यु से डरूँ तो क्यों डरूँ ?"

देवता सन्नाटे में आ गया। आज उसे हिमालय की चट्टान से टकराना पड़ रहा था। फिर भी वह मर्कट-विभीषिका दिखाए जा रहा था ! जहाज के लोगों ने भयाक्रान्त हो कर अर्हन्नक से कहा—"सेठ ! तू झूठ-मूठ ही जबान से कह दे कि मैंने धर्म छोड़ा। देवता चला जायगा। फिर जो तू चाहे करना। तेरा क्या बिगड़ता है ?"

अर्हन्नक लोगों की बात समझ नहीं सका ! झूठ-मूठ के लिए ही कहने में क्या बिगड़ता है, ध्यान में न ला सका। उसने कहा—"जो मेरे मन में नहीं है, उसके लिए मेरी वाणी कैसे हाँ भरे ? झूठ-मूठ के लिए झूठ कहना, मैंने सीखा ही कहाँ है ? मेरे धर्म की यह भाषा ही नहीं है। जो पानी कुए में है वही तो डोल में आयगा। कुँए में और पानी हो, और डोल में कुछ और ही पानी ले आऊँ, यह कला न मुझे आती है और न मुझे पसन्द ही है। मेरे धर्म ने मुझे यही सिखाया है कि जो सोचो, वही कहो, और जो कहो, वही करो। अब बताओ, मैं मन में कुछ और वाणी से भिन्न रूप में कुछ कहूँ तो कैसे कहूँ ? प्राण दे सकता हूँ, अपना सर्वस्व लुटा सकता हूँ, परन्तु मैं अपने मन, वाणी और कर्म तीनों को भिन्न रूप में कदापि नहीं कर सकता।"

: २२ :

प्रतिक्रमण : जीवन की डायरी

मनुष्य अपनी उन्नति चाहता है, प्रगति चाहता है। वह जीवन की दौड़ में हर कहीं बढ़ जाना चाहता है! साधना के क्षेत्र में भी वह तप करता है, जप करता है, संयम पालता है, एक से एक कठोर आचरण में उतरता है और चाहता है कि अपने बन्धनों को तोड़ डालूँ, आत्मा को कर्मों के अधिकार से स्वतन्त्र करा लूँ। परन्तु सफलता क्यों नहीं मिल रही है? सब कुछ करने पर भी टोटा क्यों है? लाभ क्यों नहीं?

बात यह है कि किसी भी प्रकार की उन्नति करने से पूर्व, अपनी वर्तमान अवस्था का पूरा ज्ञान प्राप्त करना, आवश्यक है। आप बढ़ते तो हैं परन्तु बढ़ने की धुन में जितना मार्ग तै कर पाया है, उस पर नजर नहीं डालते। वह सेना विजय का क्या आनन्द उठा सकेगी, जो आगे ही आगे आक्रमण करती जाती है, किन्तु पीछे की व्यवस्था पर, दुर्बलता पर, भूलों पर कोई ध्यान नहीं देती। वह व्यापारी क्या लाभ उठाएगा, जो अंधाधुन्ध व्यापार तो करता जाता है, परन्तु वही-खाते की जाँच-पड़ताल करके यह नहीं देखता कि क्या लेना-देना है, क्या हानि-लाभ है? अच्छा व्यापारी, दूसरे दिन की बिक्री उसी समय प्रारम्भ करता है, जब कि पहले दिन की आय-व्यय की विध मिला चुकता है! जिसको अपनी पूँजी का और हानि-लाभ का पता ही नहीं, वह क्या खाक व्यापार करेगा? और उस अन्धे व्यापार से होगा भी क्या? अँधी बुढ़िया चक्की पर आटा पीसती है! इधर पीसती है, और उधर

कुत्ता चुपचाप आटा खाता जा रहा है। बुढ़िया को क्या पल्ले पड़ेगा ? केवल श्रम, कष्ट, चिन्ता और शोक ! और कुछ नहीं।

जैन संस्कृति का प्रतिक्रमण यही जीवनरूपी बही की जाँच पड़ताल है। साधक को प्रति दिन प्रातःकाल और सायंकाल यह देखना होता है कि उसने क्या पाया है और क्या खोया है ? अहिंसा, सत्य, और संयम की साधना में वह कहाँ तक आगे बढ़ा है ? कहाँ तक भूला भटका है ? कहाँ क्या रोड़ा अटका है ? दशवैकालिक सूत्र की चूलिका इसी महान् भाव को लेकर कहा गया है कि साधक ! तू प्रतिदिन विचार कर कि मैंने क्या कर लिया है और अब आगे क्या करना शेष रहा है ? **'किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं ?'**

वैदिक धर्म के महान् उपनिषद् ग्रन्थ ईशावास्य में भी यही कहा है कि 'कृतं स्मर।' अर्थात् अपने किए को याद कर ! जब साधक अपने किए को याद करता है, अपनी अतीत अवस्था पर दृष्टि डालता है तो उसे पता लग जाता है कि—कहाँ क्या शिथिलता है ? कौन सी त्रुटियाँ हैं और वे क्यों हैं ? आलस्य आगे नहीं बढ़ने देता ? या समाज का भय उठने नहीं देता ? या अन्दर की वासनाएँ ही साधना-कल्पवृक्ष की जड़ों को खोखला कर रही हैं ? प्रतिक्रमण कहिए, या अपने किए हुए को याद करना कहिए, साधक जीवन के लिए यह एक अत्यन्त आवश्यक क्रिया है ! इसके करने से जीवन का भला बुरा पन स्पष्टतः आँखों के सामने झलक उठता है। दुर्बल से दुर्बल और सबल से सबल साधक को भी तटस्थ भाव से अलग सा खड़ा होकर अपने जीवन को देखने का, अपनी आत्मा को विश्लेषण करने का अवसर मिलता है। यदि कोई सच्चे मन से चाहे तो उक्त प्रतिक्रमण की क्रिया द्वारा अपनी साधना की भूलों का साफ कर सकता है और अपने आपको पथ-भ्रष्ट होने से बचा सकता है।

कहते हैं, पाश्चात्य देश के सुप्रसिद्ध विचारक फ्रेंकलिन ने अपने जीवन को डायरी से सुधारा था। वह अपने जीवन की हर घटना को

डायरी में लिख छोड़ता था और फिर उस पर चिन्तन-मनन किया करता था। प्रति सप्ताह जोड़ लगाया करता था कि इस सप्ताह में पहले सप्ताह की अपेक्षा भूलें अधिक हुई हैं या कम? इस प्रकार उसने प्रति सप्ताह भूलों को जाँचने का, उनको दूर करने का और पूर्व की अपेक्षा आगे कुछ अधिक उन्नति करने का अभ्यास चालू रक्खा था। इसका यह परिणाम हुआ कि वह अपने युग का एक श्रेष्ठ, सदाचारी एवं पवित्र पुरुष माना गया! उस की डायरी से हमारा प्रतिक्रमण कहीं अधिक श्रेष्ठ है! यह आज से नहीं, हज़ारों-लाखों वर्षों से जीवन की डायरी का मार्ग चला आ रहा है! एक दो नहीं, हज़ारों-लाखों साधकों ने प्रतिक्रमणरूप जीवन-डायरी के द्वारा अपने आपको सुधारा है, पशुत्व से ऊँचा उठाया है, वासनाओं पर विजय प्राप्त कर अन्त में भगवत्पद प्राप्त किया है! आवश्यकता है, सच्चे मन से जीवन की डायरी के पन्ने लिखने की और उन्हें जाँचने-परखने की।

: २३ :

प्रतिक्रमण : आत्मपरीक्षण

आत्मा एक यात्री है। आज कल का नहीं, पचास–सौ वर्ष का नहीं; हजार दो हजार और लाख–दश लाख वर्ष का भी नहीं, अनन्त कालका है, अनादिकालका है। आज तक कहीं यह स्थायी रूप में जमकर नहीं बैठा है, घूमता ही रहा है। कहाँ और कब होगी यह यात्रा पूरी? अभी कुछ पता नहीं।

यह यात्रा क्यों नहीं पूरी हो रही है? क्यों नहीं मानव आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुँच पा रहा है? कारण है इसका। बिना कारण के तो कोई भी कार्य कथमपि नहीं हो सकता।

आप जानना चाहेंगे, वह कारण क्या है? उत्तर के लिए एक रूपक है, जरा सावधानी के साथ इस पर अपने आपको परखिए और परखिए अपनी साधना को भी। जैन धर्म का सर्वस्व इस एक रूपक में आजाता है, यदि हम अपनी चिन्तन शक्ति का ठीक-ठीक उपयोग कर सकें।

जब कभी युक्त प्रान्त के देहाती क्षेत्र में विहार करने का प्रसंग पड़ता है, तब देखा करते हैं कि सैंकडों देहाती यात्री इधर से उधर आ जा रहे हैं और उनके कंधों पर पडे हुए हैं थैले, जिन्हें वे अपनी भाषा में खुरजी कहते हैं। एक दो कपडे, पानी पीने के लिए लोटा डोर, और भी दो चार छोटी मोटी आवश्यक चीजें थैले में डाली हुई होती हैं, कुछ आगे की ओर तो कुछ पीछे की ओर।

लम्बी बात न करूं। रूपक की भूमिका तैयार हो गई है। हमारा आत्मा भी इसी प्रकार युक्त प्रान्तका देहाती यात्री है। इसने भी अपने विचारों की खुरजी कंधे पर डाल रखी है। आत्मा के कंधा और हाथ पैर आदि कहां हैं, इस प्रश्न में मत उलझिए। मैं पहले ही बता चुका हूँ यह एक रूपक है।

हां, तो उस खुरजी में भरा क्या है? आगे की ओर उसमें भर रक्खे हैं अपने गुण और दूसरों के दोष। 'मैं कितना गुणवान् हूँ? कितनी क्षमा, दया और परोपकार की वृत्ति है मुझ में? मैं तपस्वी हूँ, ज्ञानी हूँ, विचारक हूँ। कौनसा वह गुण है, जो मुझमें नहीं है? मैंने अमुक की अमुक संकट कालमें सहायता की थी। मैं ही था, जो उस समय सहायता कर सका, सेवा कर सका, अन्यथा वह समाप्त हो गया होता। माता-पिता, पति-पत्नी, बाल-बच्चे, नाते-रिश्तेदार, मित्र-परिजन, अडौसी-पडोसी सब मेरे उपकार के ऋणी हैं। परन्तु ये सब लोग कितने नालायक निकले हैं? कोई भी तो कृतज्ञता की अनुभूति नहीं रखता। सब दुष्ट हैं, बेईमान हैं, शैतान हैं। मतलबी कुत्ते! वह देखो; कितना झूठ बोलता है? कितना अत्याचार करता है? उसके आस-पास सौ-सौ कोस तक दया की भावना नहीं है। पापाचार के सिवा उसके पास क्या है? अकेला वही क्या, आज तो सारा संसार नरक की राह पर चल रहा है।' ऐसा ही कुछ अंट-संट भरा रक्खा है आगे की ओर। अतएव हर दम दृष्टि रहती है अपने सद्गुणों और दूसरों के दोषों पर, अपनी अच्छाइयों और दूसरों की बुराइयों पर।

हाँ, तो पीठ पीछे की ओर क्या डाल रक्खा है? आखिर खुरजी के पीठ पीछे के भाग में भी तो कुछ भर रक्खा होगा? हाँ, वह भी ठसाठस भरा हुआ है अपने दोषों और दूसरों के गुणों से। अपने असत्य, अत्याचार, पापाचार आदि जो कुछ भी दोष हैं, दुर्गुण हैं, सब को पीठ पीछे के ओर डाल रक्खा है। वहाँ तक आँखें नहीं पहुँचतीं। पता ही नहीं चलता कि आखिर मुझ में भी कुछ बुराइयाँ हैं, या सबकी सब

भलाइयाँ ही हैं ? मैं भी तो झूँठ बोलता हूँ, दम्भ करता हूँ, चोरी करता हूँ, और आस-पास के दुर्बलों को अत्याचार की चक्की में पीसता हूँ। क्या मैं कभी क्रोध नहीं करता, अभिमान नहीं करता, माया नहीं करता, लोभ नहीं करता ? मुझ में भी पापाचार की भयंकर दुर्गन्ध है। दुर्भाग्य ने अपने दोष पीठ की ओर डाल रक्खे हैं, अतः आत्मा उन्हें देख ही नहीं पाता, विचार ही नहीं पाता। अपने दोषों के साथ दूसरों के के गुण भी पीछे की ओर ही डाल रक्खे हैं, अतः उनकी ओर भी दृष्टि नहीं जाती। यह संसार है, इसमें जहाँ बुरे हैं, वहाँ अच्छे भी तो हैं। जहाँ अपने साथ बुराई करने वाले हैं, वहाँ भलाई करने वाले भी तो हैं। परन्तु यह यात्री दूसरों के गुण, दूसरों की अच्छाइयाँ कहाँ देखता है ? दूसरों की दया, उपकार, सेवा और पवित्रता सब कुछ भुला दी गई है। याद हैं केवल उनके दोष। धर्मस्थान हो, सार्वजनिक सभा हो, उत्सव हो, अकेला हो, घर हो, बाहर हो, सर्वत्र दूसरों के दोषों का ढिंढोरा पीटता है। जब अवकाश मिलता है तभी विचारता है, याद करता है, कहीं भूल न जाय।

बड़ा भयंकर है यात्री। इस ने खुरजी इस ढंग से डाली है कि वह आप भी बर्बाद हो रहा है, शान्ति नहीं पा रहा है। इसके मन, वाणी और कर्म में जहर भरा हुआ है। सब ओर घृणा एवं विद्वेष के विष कण फैल रहा है। आदरबुद्धि है एक मात्र अपनी ओर, अन्यत्र कहीं नहीं। खुरजी वहन करने की पद्धति इतनी भद्दी है कि उसके कारण अपने को देवता समझता है और दूसरों को राक्षस ! अब बताइए, ऐसे यात्री को स्थायी रूप में विश्राम मिले तो कैसे मिले ? यात्रा पूरी हो तो कैसे हो ? भटकना समाप्त हो तो कैसे हो ?

जैनधर्म और जैन संस्कृति ने प्रस्तुत यात्री के कल्याणार्थ अत्यन्त सुन्दर विचार उपस्थित किए हैं। जैन धर्म के अनन्तानन्त तीर्थंकरों ने कहा है—"आत्मन् ! कुछ सोचो, समझो, विचार करो। जिस ढंग से तुम चल रहे हो, जीवन पथ पर आगे बढ़ रहे हो, वह तुम्हारे लिए

हितकर नहीं है। हमारी बात सुनो, तुम्हारा कल्याण होगा। बात कुछ कठिन नहीं है, बिल्कुल सीधी-सी है। यह मत समझो कि पता नहीं हम से क्या कराना चाहते हैं? हम तुमसे कुछ भी कठिन और कठोर काम नहीं चाहते। हम चाहते हैं, बस छोटा-सा और सीधा-सा काम! क्या तुम कर सकोगे? क्यों न कर सकोगे, आखिर तुम चैतन्य हो, आत्मा हो, जड़ तो नहीं। हाँ, यों करो कि यह खुरजी आगे से पीछे की ओर डाल दो और पीछे से आगे की ओर! तुम समझ गए न? जरा और स्पष्टता से समझलो! अपने गुण और दूसरों के दोष पीठ पीछे की ओर डाल दो। बस उनकी ओर देखो भी, विचारो भी नहीं। तुम्हारे गुण तुम्हारे अपने लिए विचारने और कहने को नहीं हैं। वे जनता के लिए हैं। यदि उनमें कुछ वास्तविकता है, श्रेष्ठता और पवित्रता है तो संसार अपने आप उनका आदर सत्कार करेगा, कीर्तन अनुकीर्तन करेगा। फूल को महकने से काम है। वह महकने के गौरव की चिन्ता में नहीं घुलता। ज्योंही वह खिलता है, महकता है, पवनदेव दूर-दूर तक उसका यशोगान करता चला जाता है। बिना किसी निमंत्रण के भ्रमर-मंडलियाँ अपने-आप चली आती हैं और गुन-गुन की मधुर ध्वनि से सहसा सारे वातावरण को मुखरित कर देती हैं।"

—"और दूसरों के दोषों की तुम्हें क्या चिन्ता पड़ी है? जो जैसा करेगा, वैसा पायेगा। तुम्हारा काम यदि किसी की कोई भूल देखो तो उसे प्रेमपूर्वक समझा देने का है। यदि वह नहीं मानता है तो तुम्हारी क्या हानि है? तुम व्यर्थ ही उसकी ओर से घृणा और द्वेष का जहर भर कर अपने मन को अपवित्र क्यों करते हो? इस प्रकार घृणा रखने से कुछ लाभ है? नहीं, अणुमात्र भी नहीं। हमारा मार्ग पाप से घृणा करना सिखाता है, पापी से नहीं। पाप कभी अच्छा नहीं हो सकता; परन्तु पापी तो पाप का परित्याग करने के बाद अच्छा हो जाता है, भला हो जाता है। क्या चोर चोरी छोड़ने के बाद पवित्रता का सम्मान नहीं पाता? क्या शराबी शराब का त्याग करने के बाद

आज तक अपने दोषों को तुमने पीठ पीछे डाल रक्खा था, अब तुम उन्हें आगे की ओर आँखों के सामने लाओ। अपने दोषों को देखने वाला सुधरता है, संवरता है। और अपने गुणों को देखने वाला बिगड़ता है, पतित होता है। स्वदोष-दर्शन अन्तर्विवेक जागृत करता है, फलतः दोषों को दूर कर सद्‌गुणों की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। इसके विपरीत स्वगुणदर्शन अहंकार को प्रेरणा देता है। फलतः साधक अपने को सहसा उच्च स्थिति पर पहुँचा हुआ समझ लेता है, जिसका परिणाम है प्रगति का रुक जाना, मार्ग का अन्धकाराच्छन्न हो जाना। स्वदोष-दर्शन ही तुम्हें साधक की विनम्र भूमिका पर पहुँचाएगा। भूल यदि भूल के रूप में समझली जाय तो साधक का साधना क्षेत्र सम्यग् ज्ञान के उज्ज्वल आलोक से आलोकित हो उठता है, अज्ञानान्धकार सहसा छिन्न-भिन्न हो जाता है। हां, तो अपने आपको परखो और जांचो। मन का एक-एक कोना छान डालो, देखो, कहाँ क्या भरा हुआ है? छोटी से छोटी भूल को भी बारीकी से पकड़ो। प्रमेह-दशा की छोटी सी फुन्सी भी कितनी विपाक्त एवं भयंकर होती है? जरा भी उपेक्षा हुई कि बस जीवन से हाथ धो लेने पड़ते हैं। अपनी भूलों के प्रति उपेक्षित रहना, साधक के लिए महापाप है। वह साधक ही क्या, जो अपने मन के कोने-कोने को झाड़बुहार कर साफ न करे। जैन धर्म का प्रतिक्रमण इसी सिद्धान्त पर आधारित है। स्वदोष-दर्शन ही आगमिक भाषा में प्रतिक्रमण है। अतएव नित्य प्रतिक्रमण करो, प्रातः सायं-हर रोज प्रतिक्रमण करो। अपने दोषों की जो जितनी कठोरता से आलोचना करेगा, वह उतना ही सच्चा प्रतिक्रमण करेगा।"

बात कुछ लम्बी कर गया हूँ। अब जरा समेट लूं तो ठीक रहेगा न? क्या पर्युषण पर्व आदि पर प्रतिक्रमण करने वाले साथी मेरी बात पर कुछ लक्ष्य देंगे। यह मेरी अपनी बात नहीं है। यह बात है जैन धर्म की और जैन धर्म के अनन्तानन्त तीर्थंकरों की। मैं समझता हूँ, आप में से बहुतों ने वह खुन्नी पलट ली होगी, आगे की पीछे और

[illegible] की चर्चा कर ली होगी। क्यों कि आप वर्षों से प्रतिक्रमण करते आ [illegible] हैं। और वह प्रतिक्रमण है क्या ? उसी अनादि काल से लादी [illegible] गठरी [illegible] के रूप में उलट लेना। यदि अब तक वह [illegible] नहीं है तो अब वह अवश्य उलट लीजिए। यदि अब भी न [illegible] तो फिर कब उलटेंगे ? समय आ गया है अब हम सब मिल [illegible] अपनी गठरी उलट लें और सच्चे मन से सच्चा प्रतिक्रमण [illegible]।

: २४ :

प्रतिक्रमण : तीसरी औषध

आचार्य हरिभद्र आदि ने प्रतिक्रमण के महत्त्व का वर्णन करते हुए एक कथा का उल्लेख किया है। वह कथा बड़ी ही सुन्दर, विचार-प्रधान तथा प्रतिक्रमण के आवश्यकत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करने वाली है।

पुराने युग में क्षितिप्रतिष्ठ एक नगरी थी और जितशत्रु उसके राजा थे। राजा को ढलती हुई आयु में पुत्र का लाभ हुआ तो उस पर अत्यन्त स्नेह रखने लगे। सदैव उसके स्वास्थ्य की ही चिन्ता रहने लगी। पुत्र कभी भी बीमार न हो, इस सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए अपने देश के तीन सुप्रसिद्ध वैद्य बुलवाए और उनसे कहा कि कोई ऐसी औषध बताइए, जो मेरे पुत्र के लिए सब प्रकार से लाभकारी हो।

तीनों वैद्यों ने अपनी-अपनी औषधियों के गुण-दोष, इस प्रकार बतलाए।

पहले वैद्य ने कहा—मेरी औषधि बड़ी ही श्रेष्ठ है। यदि पहले से कोई रोग हो तो मेरी औषधि तुरन्त प्रभाव डालेगी और रोग को नष्ट कर देगी। परन्तु यदि कोई रोग न हो, और औषधि खा ली जाय तो फिर अवश्य ही नया रोग पैदा होगा, और वह रोगी मृत्यु से बच न सकेगा।

राजा ने कहा—बस, आप तो कृपा रखिए। अपने हाथों मृत्यु को निमन्त्रण कौन दे ? यह तो शान्ति में बैठे हुए पेट मसल कर दर्द पैदा करना है।

दूसरे वैद्य ने कहा—राजन् ! मेरी औषधि ठीक रहेगी। यदि कोई रोग होगा तो उसे नष्ट कर देगी, और यदि रोग न हुआ तो न कुछ लाभ होगा, न कुछ हानि।

राजा ने कहा—आपकी औषधि तो राख में घी डालने जैसी है। यह आपकी औषधि भी मुझे नहीं चाहिए।

तीसरे वैद्य ने कहा—महाराज ! आप के पुत्र के लिए तो मेरी औषधि ठीक रहेगी। मेरी औषधि आप प्रतिदिन नियमित रूप से खिलाते रहिए। यदि कोई रोग होगा तो वह शीघ्र ही उसे नष्ट कर देगी। और यदि कोई रोग न हुआ तो भविष्य में नया रोग न होने देगी, प्रत्युत शरीर की कान्ति, शक्ति और स्वस्थता में नित्य नई अभिवृद्धि करती रहेगी।

राजा ने तीसरे वैद्य की औषधि पसन्द की। राजपुत्र उस औषधि के नियमित सेवन से स्वस्थ, सशक्त और तेजस्वी होता चला गया।

उक्त कथानक के द्वारा आचार्यों ने यह शिक्षा दी है कि प्रतिक्रमण प्रातः और सायंकाल में प्रति दिन आवश्यक है, दोष लगा हो तब भी और दोष न लगा हो तब भी। यदि कोई संयम-जीवन में हिंसा असत्य आदि का अतिचार लग जाए तो प्रतिक्रमण करने से वह दोष दूर हो जाएगा और साधक पुनः अपनी पहले जैसी पवित्र अवस्था प्राप्त कर लेगा। दोष एक रोग है, और प्रतिक्रमण उसकी सिद्ध अचूक औषधि है। और यदि कोई दोष न लगा हो, तब भी प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। उस दशा में दोषों के प्रति घृणा बनी रहेगी, संयम के प्रति सावधानता मंद न पड़ेगी, जीवन जाग्रत रहेगा, स्वीकृत चारित्र निरन्तर शुद्ध, पवित्र, निर्मल होता चला जायगा, फलतः भविष्य में भूल होने की संभावना कम हो जायगी।

यह कथानक उन लोगों के समाधान के लिए है, 'जो यह कहते हैं कि हम जिस दिन कोई पाप ही न करें, तो फिर उस दिन प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है ? व्यर्थ ही प्रतिक्रमण के पाठों को बोलने से क्या लाभ है ? यह समय का अपव्यय नहीं तो और क्या है ?'

प्रथम तो जब तक मनुष्य छद्मस्थ है एवं प्रमादी है, तब तक कोई दोष लगे ही नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है ? मन, वचन, शरीर का योग परिस्पंदात्मक है और उसमें जहाँ भी कहीं कषाय भाव का मिश्रण हुआ कि फिर दोष लगे बिना नहीं रह सकता। दिन और रात मन की गति धर्म की ओर ही अभिमुख रहे, जरा भी इधर-उधर न झुके, यह व्यर्थ का दावा है, जो प्रमादी दशा में किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं हो सकता। परन्तु तुष्यतु दुर्जनन्याय से यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय, तब भी प्रतिक्रमण की साधना तीसरी औषधि के समान है। वह केवल पुराने दोषों को दूर करने के लिए ही नहीं है, अपितु भविष्य में दोषों की सम्भावना को कम करने के लिए भी है। प्रतिक्रमण करते समय जो भावविशुद्धि होगी, वह साधक के संयम को शक्तिशाली एवं तेजस्वी बनाएगी। पापाचरण के प्रति घृणा व्यक्त करना ही प्रतिक्रमण का उद्देश्य है। पाप किया हो, या न किया हो, साधक के लिए यह प्रश्न मुख्य नहीं है। साधक के लिए तो सब से बड़ा प्रश्न यही हल करना है कि वह पाप के प्रति घृणा व्यक्त कर सकता है या नहीं ? यदि घृणा व्यक्त कर सकता है तो वह अपने-आप में स्वयं एक बड़ी साधना है। पापों को धिक्कारना ही पापों को समाप्त करना है। यह लोक-नियम है कि जिसके प्रति जितनी घृणा होगी, उससे उतनी ही दृढ़ता से अलग रहा जायगा, एक दिन उसका सर्वनाश कर दिया जायगा। प्रति दिन के प्रतिक्रमण में जब हम पापों के प्रति घृणा व्यक्त करेंगे, उन्हें परभाव मानेंगे, उन्हें अपना विरोधी मानेंगे, आत्मस्वरूप के घातक समझेंगे तो फिर उनका जीवन में कभी भी सत्कार न करेंगे। सदैव उनसे दूर रह कर अपने को बचाए रखने का सतत प्रयत्न करेंगे।

इस प्रकार प्रतिदिन का प्रतिक्रमण केवल भूतकाल के दोषों को ही साफ नहीं करता है, अपितु भविष्य में भी साधक को पापों से बचाता है।

दूसरी बात यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते रहने से साधक में अप्रमत्त भाव की स्फूर्ति बनी रहती है। प्रतिक्रमण के समय पवित्र भावना का प्रकाश मन के कोने-कोने पर जगमगाने लगता है, और समभाव का अमृत-प्रवाह अन्तर के मल को बहाकर साफ कर देता देता है। पाप हुए हों या न हुए हों, परन्तु प्रतिक्रमण के समय सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान की साधना तो हो ही जाती है। और यह साधना भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। छह अंश में से पाँच अंश की उपेक्षा किस न्याय पर की जा सकती है? अतएव अधिक चर्चा में न उतर कर हम आचार्य हरिभद्र एवं जिनदास के शब्दों में यही कहना चाहते हैं कि प्रतिक्रमण तीसरी औषधि है। पूर्व पाप होंगे तो वे दूर होंगे, और यदि पूर्व पाप न हों, तो भी संयम की साधना के लिए बल मिलेगा, स्फूर्ति मिलेगी। की हुई साधना किसी भी अंश में निष्फल नहीं होती।

: २५ :

प्रतिक्रमण : मिच्छामि दुक्कडं

'मिच्छामि दुक्कडं' जैन संस्कृति की बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। जैन धर्म का समस्त साधनासाहित्य मिच्छामि दुक्कडं से भरा हुआ है। साधक अपनी भूल के लिए मिच्छामि दुक्कडं देता है और पाप-मल को धोकर पवित्र बन जाता है। भूल हो जाने के बाद, यदि साधक मिच्छामि दुक्कडं दे लेता है, तो वह आराधक कहा जाता है। और यदि अभिमानवश अपनी भूल नहीं स्वीकार करता एवं मिच्छामि दुक्कडं नहीं कहता, तो वह धर्म का विराधक रहता है, आराधक नहीं।

मन में किसी के प्रति द्वेष आए तो मिच्छामि दुक्कडं कहना चाहिए। लोभ या छल की दुर्भावना आए तो मिच्छामि दुक्कडं कहना चाहिए। विचार में कालिमा हो, वाणी में मलिनता हो, आचरण में कलुषता हो, अर्थात् खाने में, पीने में, जाने में, आने में, उठने में, बैठने में, सोने में, बोलने में, सोचने में, कहीं भी कोई भूल हो तो जैन-धर्म का साधक मिच्छामि दुक्कडं का आश्रय लेता है। उसके यहाँ 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना, प्रतिक्रमण-रूप[1] प्रायश्चित्त है। वह प्रायश्चित साधना को पवित्र, निर्मल, स्वच्छ तथा शुद्ध बनाता है।

१—'मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रिया, प्रतिक्रमणम्'
—राजवार्तिक ९। २२। ३।

पाठक विचार करते होंगे कि क्या मिच्छामि दुक्कडं कहने से ही सब पाप धुल जाते हैं ? यह क्या कोई छूमंतर है ? जो मिच्छामि दुक्कडं कहा और सब पाप हवा हो गए। समाधान है कि केवल कथन मात्र से ही पाप दूर हो जाते हों, यह बात नहीं है। शब्द में स्वयं कोई पवित्र अथवा अपवित्र करने की शक्ति नहीं है। वह जड़ है, क्या किसी को पवित्र बनाएगा। परन्तु शब्द के पीछे रहा हुआ मनका भाव ही सबसे बड़ी शक्ति है। वाणी को मन का प्रतीक माना गया है। अतः 'मिच्छामि दुक्कडं' महावाक्य के पीछे जो आन्तरिक पश्चात्ताप का भाव रहा हुआ होता है, उसी में शक्ति है और वह बहुत बड़ी शक्ति है। पश्चात्ताप का दिव्य निर्भर आत्मा पर लगे पाप मल को बहाकर साफ़ कर देता है। यदि साधक परंपरागत निष्प्राण रूढ़ि के फेर में न पड़कर, सच्चे मन से पापाचार के प्रति घृणा व्यक्त करे, पश्चात्ताप करे, तो वह पाप कालिमा को सहज ही धोकर साफ कर सकता है। आखिर अपराध के लिए दिया जाने वाला तपश्चरण या अन्य किसी तरह का दण्ड भी तो मूल में पश्चात्ताप ही है। यदि मन में पश्चात्ताप न हो, और कठोर से कठोर प्रायश्चित्त बाहर में ग्रहण कर भी लिया जाय, तो क्या आत्मशुद्धि हो सकती है ? हर्गिज नहीं। दण्ड का उद्देश्य देह दण्ड नहीं है, अपितु मनका दण्ड है। और मन का दण्ड क्या है, अपनी भूल स्वीकार कर लेना, पश्चात्ताप कर लेना। यही कारण है कि जैन या अन्य भारतीय साहित्य में साधना के क्षेत्र में पाप के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है, दण्ड का नहीं। दण्ड प्रायः बाहर अटक कर रह जाता है, अन्तरंग में प्रवेश नहीं कर पाता, पश्चात्ताप का झरना नहीं बहाता। दण्ड में दण्डदाता की ओर से बलात्कार की प्रधानता होती है। और प्रायश्चित्त साधक की स्वयं अपनी तैयारी है। वह अन्तर्हृदय में अपने स्वयं के पाप को शोधन करने के लिए उल्लास है। अतः वह अपराधी को पश्चात्ताप के द्वारा भावुक बनाता है, विनीत बनाता है, सरल एवं निष्कपट बनाता है, दण्ड पाने वाले के समान धृष्ट

नहीं। हाँ, तो मिच्छामि दुक्कडं भी एक प्रायश्चित्त है। इसके मूल में पश्चात्ताप की भावना है, यदि वह सच्चे मनसे हो तो ?

ऊपर के लेखन में बार-बार सच्चे मन और पश्चात्ताप की भावना का उल्लेख किया गया है। उसका कारण यह है कि आजकल जैनों का 'मिच्छामि दुक्कडं' काफी बदनाम हो चुका है। आज के साधकों की साधना के लिए, आत्म-शुद्धि के लिए तैयारी तो होती नहीं है। प्रतिक्रमण का मूल आशय समझा तो जाता नहीं है। अथवा समझकर भी नैतिक दुर्बलता के कारण उस विकाश तक नहीं पहुँचा जाता है। अतः वह लोक रूढि के कारण प्रतिक्रमण तो करता है, मिच्छामि दुक्कडं भी देता है, परन्तु फिर उसी पाप को करता रहता है, उससे निवृत्त नहीं होता है। पाप करना, और मिच्छामि दुक्कडं देना, फिर पाप करना और फिर मिच्छामि दुक्कडं देना, यह सिलसिला जीवन के अन्त तक चलता रहता है, परन्तु इससे आत्म शुद्धि के पथपर ज़रा भी प्रगति नहीं हो पाती।

जैन-धर्म इस प्रकार की बाह्य-साधना को द्रव्य-साधना कहता है। वह केवल वाणी से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना, और फिर उस पाप को करते रहना, ठीक नहीं समझता है। मन के मैल को साफ किए बिना और पुनः उस पाप को नहीं करने का दृढ़ निश्चय किए बिना, खाली ऊपर-ऊपर से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने का कुछ अर्थ नहीं है। एक ओर दूसरों का दिल दुखाने का काम करते रहें, हिंसा करते रहें, झूठ बोलते रहें, अन्याय अत्याचार करते रहें, और दूसरी ओर मिच्छामि दुक्कडं की रट लगाते रहें, तो यह साधना का मज़ाक नहीं तो और क्या है ? यह माया है, साधना नहीं। इस प्रकार की 'मिच्छामि दुक्कडं' पर जैन-धर्म ने कठोर आलोचना की है। इसके लिए आवश्यक चूर्णि में आचार्य जिनदास कुम्हार के पात्र फोड़ने वाले शिष्य का उदाहरण देते हैं।

एक बार एक आचार्य किसी गाँव में पहुँचे और कुम्हार के पड़ोस में ठहरे। आचार्य का एक छोटा शिष्य बड़ी चंचल प्रकृति का खिलाड़ी

व्यक्ति था। कुम्हार ज्योंही चाक पर से पात्र उतार कर भूमि पर रक्खे, और वह शिष्य कंकर का निशाना मार कर उसे तोड़ दे। कुम्हार ने शिकायत की तो मिच्छामि दुक्कड़ं कहने लगा। परन्तु वह रुका नहीं, बार-बार मिच्छामि दुक्कड़ं देता रहा, और पात्र तोड़ता रहा। आखिर कुम्हार को आवेश आ गया, उसने कंकर उठाकर क्षुल्लक के कान पर रख ज्योंही जोर से दबाया तो वह पीड़ा से तिलमिला उठा। उसने कहा, अरे यह क्या कर रहा है? कुम्हार ने कहा—'मिच्छामि दुक्कडं। दबाता जाता और मिच्छामि दुक्कड़ं कहता जाता, अन्ततः क्षुल्लक को अपने मिच्छामि दुक्कड़ं की भूल स्वीकार करनी पड़ी।

जब तक पश्चाताप न हो, तब तक केवल वाणी की 'मिच्छामि दुक्कड़ं' कुम्हार की मिच्छामि दुक्कड़ं है। यह मिच्छामि दुक्कड़ं आत्मा को शुद्ध तो क्या, प्रत्युत और अधिक अशुद्ध बना देती है। यह मार्ग पाप के प्रतिकार का नहीं, अपितु पाप के प्रचार का है। देखिए, आचार्य भद्रबाहु, इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं:—

जइ य पडिक्कमियव्वं,
अवस्स काऊण पावयं कम्मं।
तं चेव न कायव्वं,
तो होइ पए पडिक्कंतो ॥६८३॥

—पाप कर्म करने के पश्चात् जब प्रतिक्रमण अवश्य करणीय है, तब सच्चा मार्ग तो यह है कि वह पाप कर्म किया ही न जाय। आध्यात्मिक दृष्टि से वस्तुतः यही सच्चा प्रतिक्रमण है।

जं दुक्कडं ति मिच्छा,
तं भुज्जो कारणं अपूरेंतो।
तिविहेण पडिक्कंतो,
तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ॥६८४॥

—जो साधक त्रिविध योग से प्रतिक्रमण करता है, जिस पाप के लिए

मिच्छामि दुक्कड़ं दे देता है फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है, वस्तुतः उसी का दुष्कृत मिथ्या अर्थात् निष्फल होता है।

जं दुक्कड़ं ति मिच्छा,
तं चेव निसेवए पुणो पावं।
पच्चक्ख - मुस्सावाई,
मायानियडी - पसंगो य ॥६८४॥

—साधक एक बार मिच्छामि दुक्कडं देकर भी यदि फिर उस पापाचरण का सेवन करता है तो वह प्रत्यक्षतः झूठ बोलता है, दंभ का जाल बुनता है।[1]

आचार्य धर्मदास तो उपदेश माला में इस प्रकार के धर्म-ध्वजी एवं वक्रवृत्ति लोगों के लिए बड़ी ही कठोर भर्त्सना करता है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहता है।

जो जहवायं न कुणइ,
मिच्छादिट्ठी तउ हु को अन्नो ?
वुड्ढेइ य मिच्छत्तं,
परस्स संकं जणेमाणो ॥५०६॥

—जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि भविष्य में वैसा करता नहीं है तो उससे बढ़कर मिथ्या दृष्टि और कौन होगा? वह दूसरे भद्र लोगों के

१—जैनजगत के महान् दार्शनिक वाचक यशोविजय भी अपनी गुर्जर भाषा में इसी भावना को व्यक्त कर रहे हैं—

'मूल पदे पडिक्कमणुं भाख्यूं, पापतणुं अणकरवूं।
मिच्छा दुक्कड़ देई पातक,
ते भावे जे सेवे रे।
आवश्यक साखे ते परगट,
माया मोसो सेवे रे॥'

मन में शंका पैदा करता है और इस रूप में मिथ्यात्व की वृद्धि हीं करता है।

आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी, आवश्यक निर्युक्ति में, 'मिच्छा मि दुक्कड़ं' के एकेक अक्षर का अर्थ ही इस रूप में करते हैं कि यदि साधक मिच्छा मि दुक्कड़ं कहता हुआ उस पर विचार कर ले तो फिर पापाचरण करे ही नहीं।

'मि' त्ति मिउमद्दवत्ते,
'छ' त्ति य दोसाण छायणे होइ।
'मि' त्ति य मेराए ठिओ,
'दु' त्ति दुगुंछामि अप्पाणं ॥६८६॥
'क' त्ति कडं मे पावं,
'ड' त्ति य डेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छा दुक्कड़,-
पयक्खरत्थो समासेणं ॥६८७॥

—'मि' का अर्थ मृदुता और मार्दवता है। काय नम्रता को मृदुता कहते हैं और भावनम्रता को मार्दवता। 'छ' का अर्थ असंयमयोगरूप दोषों को छादन करना है, अर्थात् रोक देना है। 'मि' का अर्थ मर्यादा है, अर्थात् मैं चारित्ररूप मर्यादा में स्थित हूँ। 'दु' का अर्थ निन्दा है। 'मैं दुष्कृत करने वाले भूतपूर्व आत्मपर्याय की निन्दा करता हूँ।' 'क' का भाव पापकर्म की स्वीकृति है, अर्थात् मैंने पाप किया है, इस रूप में अपने पापों को स्वीकार करना। 'ड' का अर्थ उपशम भाव के द्वारा पाप कर्म का प्रतिक्रमण करना है, पापक्षेत्र को लाँघ जाना है। यह संक्षेप में मिच्छामि दुक्कड़ं पद का अक्षरार्थ है।

हाँ तो संयम यात्रा के पथ पर प्रगति करते हुए यदि कहीं साधक से भूल हो जाय, तो सर्वप्रथम उसके लिए अच्छे मन से पश्चात्ताप होना चाहिए, फिर से उस भूल की आवृत्ति न होने देने के लिए सतत सक्रिय प्रयत्न भी चालू हो जाना चाहिए। मन का साफ

होना अत्यन्त आवश्यक है। दिल में घुंडी रखकर कुछ भी सफलता नहीं मिल सकती। इस प्रकार पश्चात्ताप के उज्ज्वल प्रकाश में यदि मन, वाणी और कर्म से मिच्छामि दुक्कडं दिया जाय तो वह कदापि निष्फल नहीं हो सकता। वह पाप की कालिमा को धोएगा, और अवश्य धोएगा।

: २६ :

मुद्रा

साधक के लिए आवश्यक आदि क्रिया करते समय जहाँ अन्तरंग में मन की एकाग्रता अपेक्षित है, वहाँ बाहर में शरीर की एकाग्रता भी कम महत्त्व की नहीं है। वह द्रव्य अवश्य है, परन्तु भाव के लिए अत्यन्त अपेक्षित है। सैनिक में जहाँ वीरता का गुण अपेक्षित है, वहाँ बाहर का व्यायाम और कवायद क्या कुछ कम मूल्य रखते हैं? नहीं, वे शरीर को सुदृढ़, स्फूर्तिमान, और विरोधी आक्रमण से बचने के योग्य बनाते हैं। यही कारण है कि भारतीय धर्मों में आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आसन और मुद्रा आदि का बहुत बड़ा महत्त्व माना गया है।

शरीर के अव्यवस्थित रूप में रहने वाले अवयवों को अमुक विशेष आकृति में व्यवस्थित करना, सामान्य रूप से मुद्रा कहा जाता है। मुद्रा, साधक में नवचेतना पैदा करती है और भावना का उल्लास जगा देती है। ज्यों ही किसी विशेष मुद्रा के करने का प्रसंग आता है, त्यों ही साधक जागृत हो जाता है और उसका भूला भटका मन सहसा केन्द्र में आ खड़ा होता है। मन्द और क्षीण हुई धर्म चेतना, मुद्रा का प्रसंग पा कर पुनः उद्दीप्त हो उठती है; फलतः साधक नई स्फूर्ति के साथ साधना के पथ पर अग्रसर हो जाता है।[1]

१—मुद्रा के लिए आचार्य नेमिचन्द्र प्रवचन सारो द्वार में कहते हैं कि मुद्रा से अशुभ मन, वचन, काय योग का निरोध होता है और उनकी शुभ में प्रवृत्ति होती है। 'कायमणोवयणनिरोहणं य तिविहं च परिहारां।' १७१। 'कायमनोवचनानामकुशलरूपाणां निरोधनं—नियमनं, शुभानां च तेषां करणमिति।

जैन साहित्य में इस प्रकार की तीन मुद्राएँ मानी गई हैं— (१) योग मुद्रा, (२) जिन मुद्रा, और (३) मुक्ताशुक्ति मुद्रा।

एक हाथ की अंगुलियों को दूसरे हाथ की अंगुलियों में डाल कर कमल-डोडा के आकार से हाथ जोड़ना, दोनों हाथों के अंगूठों को मुख के आगे नासिका पर लगाना, और दोनों हाथों की कुहनियों को पेट पर रखना, योग मुद्रा है। यह मुद्रा घुटने टेक कर, अथवा गोदुह आसन से उकडू बैठकर की जाती है।

जिनेश्वर देव जब कायोत्सर्ग करते हैं, तब दोनों चरणों के बीच आगे के भाग में चार अंगुल जितना और पीछे के भाग में एडी की ओर चार अंगुल से कुछ कम साढे तीन अंगुल जितना अंतर रखते हैं। और उक्त दशा में दाहिना हाथ दाहिनी जंघा के पास एवं बायाँ हाथ बाँई जंघा के पास लटकता रहता है। दोनों हाथों की हथेलियाँ आगे की ओर चित खुली हुई होती हैं। यह जिनमुद्रा है। यह मुद्रा दण्डायमान सीधे खड़े होकर की जाती है।

तीसरी मुक्ताशुक्ति मुद्रा का यह प्रकार है कि कमल-डोडा के समान दोनों हाथों को बीच में पोल रख कर जोड़ना और मस्तक पर लगाना, अथवा मस्तक से कुछ दूर रखना। मुक्ता का अर्थ है मोती, और शुक्ति का अर्थ है सीप। अस्तु मुक्ताशुक्ति के समान मिली हुई मुद्रा, मुक्ताशुक्ति मुद्रा कहलाती है। यह मुद्रा भी घुटनों को भूमि पर टेक कर, अथवा गो-दुह आसन से उकडू बैठकर की जाती है।

अन्नोऽन्नंतर अंगुलि,
कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं।
पेटोवरि कुप्परसंठिएहिं,
तह जोगमुद्दत्ति ॥५४॥

चत्तारि अंगुलाइं,
पुरओ ऊणाइं जत्थ पच्छिमओ।

पायाणं उस्सग्गो,
एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥७५॥

मुत्तासुत्ती मुद्दा,
समा जहिं दोवि गब्भिया हत्था।

ते पुण निलाड - देसे,
लग्गा अप्पणे अलग्गत्ति ॥७६॥

—प्रवचन सारोद्धार। १ द्वार।

: २७ :

प्रतिक्रमण पर जन-चिन्तन

पापाचरण एक शल्य है, जो उसे बाहर न निकाल कर मन में ही छिपाए रहता है, वह अन्दर अन्दर पीड़ित रहता है, बर्बाद होता है।

× × ×

प्रतिक्रमण संयम के छेदों को बन्द करने के लिए है। प्रतिक्रमण से आश्रव रुकता है, संयम में सावधानता होती है, फलतः चारित्र की विशुद्धि होती है।

× × ×

सरलहृदय निष्कपट साधक ही शुद्ध हो सकता है। शुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण में ही धर्म ठहर सकता है। शुद्ध हृदय साधक, घी से सिंचित अग्नि की तरह शुद्ध होकर परम निर्वाण अर्थात् उत्कृष्ट शान्ति को प्राप्त होता है।

× × ×

आत्म-दोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भट्टी सुलगती है। और उस पश्चात्ताप की भट्टी में सब दोषों को जलाने के बाद साधक परम वीतराग भाव को प्राप्त करता है।

—भगवान् महावीर

तू अपने किए पापों से अपने को ही मलिन बना रहा है। पाप छोड़ दे तो स्वयं ही शुद्ध हो जायगा। शुद्धि और अशुद्धि अपने ही हैं। अन्य मनुष्य अन्य मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

× × ×

यदि शल्य से मनुष्य बिंधा हुआ है तो वह भाग-दौड़ मचायगा ही। र यदि वह अन्तर में बिंधा हुआ बाण खींच कर निकाल लिया जाय, तो वह शान्ति से चुप बैठ जायगा।

\+ + +

जो मनुष्य समस्त पापों को हृदय से निकाल बाहर कर देता है, जो विमल, समाहित, और स्थितात्मा होकर संसार-सागर को लाँघ जाता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

—तथागत बुद्ध

जो मनुष्य जितना ही अन्तर्मुख होगा, और जितनी ही उसकी वृत्ति सात्विक व निर्मल होगी, उतनी ही दूर की वह सोच सकेगा और उतने ही दूर के परिणाम वह देख सकेगा।

\+ + +

कर्म दूषित हो गया हो तो ज्यादा घबराने की बात नहीं, वृत्ति दूषित न होने दो। वृत्ति को दूषित होने से बचाने का उपाय है मन को भी दोषों से बचाने का प्रयत्न करना।

× × ×

पाप को पेट में मत रख, उगल दे। जहर तो पेट में रख लेने से शरीर को ही मारता है, किन्तु पाप तो सारे सत्य को ही मिटा देता है।

× × ×

जहाँ गुप्तता है वहाँ कोई बुराई अवश्य है। बुराई को छिपाना, बुराई को बढ़ाना है।

× × ×

विकार, चोरों की तरह, गाफिल मनुष्य के घर में ही सेंध लगाते हैं। जागरूकता उनके हमले से बचाव की सबसे बड़ी ढाल है।

× × ×

जिस प्रकार जहाज का कप्तान अपनी नोट बुक में यात्रा तथा

जहाज सम्बन्धी बातें लिखता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष भाव से प्रतिदिन अपने दैनिक कार्य-क्रम के बारे में लिखना चाहिए और अगले दिन उसे सोचना चाहिए कि उसके काम में जो त्रुटियाँ और दोष रह गए हैं, उनके दूर करने में वह कहाँ तक सफल हुआ?

\+ + +

पाप विनाश की वंशी है, जिसके काँटे का ज्ञान मछली को लीलते समय नहीं, बल्कि मरते समय होता है।

× × ×

पतन में परिणाम का अज्ञान होता है। भावावेश में जो कुछ होता है, वह मूर्छित दशा में होता है, और मूर्छा उतर जाने पर हुआ पश्चात्ताप उसे शुद्ध करके आगे बढ़ाता है।

× × ×

यदि तूने अपनी कोई गलती महसूस की है तो तू अपनी तरफ से उसे फौरन पोंछ डाल। दूसरे की गलती या अन्याय को उसके इन्साफ पर छोड़ दे।

× × ×

गुस्से का दूसरा पहलू है असंयम। जितना ही अधिक संयम, उतना ही अधिक सुखी एवं शान्त जीवन।

× × ×

जब तुम अपने को पढ़ने लगोगे तो देखोगे कि कैसे-कैसे विस्मय-जनक पृष्ठ तुम्हारे सामने आते हैं।

अपने को पहचानने के लिए मनुष्य को अपने से बाहर निकल कर तटस्थ बनकर अपने को देखना है।

× × ×

यह कितनी गलत बात है कि हम मैले रहें और दूसरों को साफ रहने की सलाह दें!

× × ×

मनुष्य जीवन और पशुजीवन में फ़रक क्या है ? इसका सम्पूर्ण-विचार करने से हमारी काफी मुसीबतें हल होती हैं।

× × × ×

मनुष्य जब अपनी हद से बाहर जाता है, हद से बाहर काम करता है, हद से बाहर विचार भी करता है, तब उसे व्याधि हो सकती है, क्रोध आ सकता है।

× × × ×

हमारी गन्दगी हमने जब बाहर नहीं निकाली है, तब तक प्रभु की प्रार्थना करने का हमें कुछ हक है क्या ?

× × × ×

गुनाह छिपा नहीं रहता। वह मनुष्य के मुख पर लिखा रहता है। उस शास्त्र को हम पूरे तौर से नहीं जानते, लेकिन बात साफ है।

× × × ×

ग़लती, तब ग़लती मिटती है जब उसकी दुरुस्ती कर लेते हैं। ग़लती जब दबा देते हैं, तब वह फोड़े की तरह फूटती है और भयंकर स्वरूप ले लेती है।

× × + ×

आत्मा को पहचानने से, उसका ध्यान करने से और उसके गुणों का अनुसरण करने से मनुष्य ऊँचे जाता है। उलटा करने से नीचे जाता है।

× × × ×

अन्धा वह नहीं जिसकी आँख फूट गई है। अन्धा वह है जो अपने दोष ढाँकता है।

× × × ×

क्यों नाहक दूसरों के ऐब ढूँढने चलते हो ? माना कि सभी पापी हैं, सभी अन्धे हैं, सभी गुनहगार हैं। लेकिन, तुम दूसरों को क्या

उपदेश दे रहे हो? जरा अपने भीतर तो झाँक कर देखो कि वहाँ सुधार की कोई गुञ्जाइश है या नहीं? अगर है तो फिर तुम्हारे सामने काफी जरूरी काम मौजूद है। सबसे पहले इसी पर ध्यान दो। सबसे पहले अपना सुधार करो। और जब तक तुम खुद मैले हो, तब तक तुम्हें दूसरों को उपदेश देने का क्या अधिकार है?

× × × ×

पर छिद्रान्वेषण की अपेक्षा आत्म-निरीक्षण मानवता है
किसी के अपराध को भूलना और क्षमा कर देना मानवता है।
बदला लेना नहीं, देना मानवता है।

—महात्मा गांधी

प्रत्येक व्यक्ति को बुराई से संघर्ष करने के लिए अपनी शक्ति पर विश्वास होना चाहिए।

× × × ×

मुझमें और कितने ही दुर्गुण हो सकते हैं, परन्तु एक दुर्गुण नहीं है कि 'छिप कर परदे के पीछे कुछ करना'।

× × × ×

हमें अपने आपको लोगों में वैसा ही जाहिर करना चाहिए, जैसे कि हम वास्तव में हों। कोरी नुमाइश करना ठीक नहीं है।

—जवाहरलाल नेहरू

अपनी मर्यादा को ठीक कायम रखने से ही हम अपने अन्दर के भगवान् का साक्षात्कार कर सकते हैं।

—पट्टाभिसीतारमैय्या

हमारे लिए धर्म हमेशा से ही कट्टर मतों का विचार नहीं, बल्कि आत्मा की खोज का मार्ग रहा है।

—राजगोपालाचार्य

धर्म जीवन की साधना करते हुए अपने आपसे पूछो कि कहीं तुमने ऐसा काम तो नहीं किया है, जो घृणा का हो, द्वेष का हो, अथवा शत्रुता की भावना को बढ़ाने वाला हो। इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिले तो समझना चाहिये कि प्रार्थना का, धर्माचरण का आप पर कोई असर जरूर हो रहा है, अथवा हुआ है।

—सन्त तुड़को जी

मन का सभी मैल धुल जाने पर ईश्वर का दर्शन होता है। मन मानो मिट्टी से लिपटी हुई एक लोहे की सुई है, ईश्वर है चुम्बक। मिट्टी के रहते चुम्बक के साथ संयोग नहीं होता। रोते रोते (शुद्ध हृदय से पश्चात्ताप करते) सुई की मिट्टी धुल जाती है। सुई की मिट्टी यानी काम, क्रोध, लोभ, पाप बुद्धि, विषयबुद्धि आदि। मिट्टी के धुल जाने पर सुई को चुम्बक खींच लेगा, अर्थात् ईश्वर दर्शन होगा।

× × × ×

घर में यदि दीपक न जले तो वह दारिद्रय का चिह्न है। हृदय में ज्ञान का दीपक जलाना चाहिए। हृदय में ज्ञान का दीपक जलाकर उसको देखो।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

मेरी समझ में, हम लोगों को ऐसा होना चाहिए कि यदि सब कोई वैसे हों तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन जाय।

—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

जिनका हृदय शुद्ध है वे धन्य हैं, क्योंकि उन्हें परमात्मा की प्राप्ति अवश्य ही होगी। अतएव यदि तुम शुद्ध नहीं हो तो फिर चाहे दुनिया का सारा विज्ञान तुम्हें अवगत हो, परन्तु फिर भी उसका कुछ उपयोग न होगा!

× × × ×

अगर शुद्ध हृदय और बुद्धि में झगड़ा पड़े तो तुम अपने शुद्ध

हृदय ही की सुनो।............शुद्ध हृदय ही सत्य के प्रतिबिम्ब के लिए सर्वोत्तम दर्पण है।

× × × ×

हृदय को सर्वदा अधिकाधिक पवित्र बनाओ, क्योंकि भगवान् के कार्य हृदय द्वारा ही होते हैं।............अगर तुम्हारा हृदय काफी शुद्ध होगा तो दुनिया के सारे सत्य उसमें आविर्भूत हो जायँगे।

× × × ×

हम दुर्बल हैं—इस कारण गलती करते हैं और हम अज्ञानी हैं, इसलिए दुर्बल हैं। हमें अज्ञानी कौन बनाता है? हम स्वयं ही। हम अपनी आँखों को अपने हाथों से ढँक लेते हैं और अँधेरा है—कहकर रोते हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्म का सार तत्त्व है, अपने हृदय से पर्दे का हटाना अर्थात् अपने आपका स्वरूप जानना।

× × × ×

सबसे प्रीति करते रहिए, और संसार की अन्य किसी बात की ओर ध्यान न दीजिए।

× × × ×

संसार में दुःखों का प्रधान कारण यह है कि हम लोग अपने भीतर नहीं देखते।

× × × ×

[illegible] दूसरों की आँखों से मत देखो। सदा अपनी [illegible] से देखो।

× × × ×

सर्वोत्तम आलोचना वह है, जो बाहर से अनुभव कराने के बदले लोगों को वही अनुभव भीतर से करा देती है।

× × × ×

आत्मा से बाहर मत भटको, अपने ही केन्द्र में स्थित रहो।

—स्वामी रामतीर्थ

यदि एक तरफ से या अपने एक अंग से तुम सत्य के सम्मुख होते हो और दूसरी तरफ से आसुरी शक्तियों के लिए अपने द्वार बराबर खोलते जा रहे हो तो यह आशा करना व्यर्थ है कि भगवत्प्रसाद शक्ति तुम्हारा साथ देगी। तुम्हें अपना मन्दिर स्वच्छ रखना होगा, यदि तुम चाहते हो कि भागवती शक्ति जाग्रत रूप से इसमें प्रतिष्ठित हो।

× × × ×

पहले यह ढूँढ़ निकालो कि तुम्हारे अन्दर कौन-सी चीज है, जो मिथ्या या तमोग्रस्त है और उसका सतत त्याग करो।

× × × ×

यह मत समझो कि सत्य और मिथ्या, प्रकाश और अन्धकार, समर्पण और स्वार्थ-साधन एक साथ उस घर में रहने दिए जायँगे, जो गृह भगवान् को निवेदित किया गया हो।

—श्री अरविन्द योगी

चित्त जबतक गंगाजल की तरह निर्मल व प्रशान्त नहीं हो जाता, तबतक निष्कामता नहीं आ सकती।····अन्तर्बाह्य—भीतर व बाहर दोनों एक होना चाहिए।

+ + +

विस्मृति कोई बड़ा दोष है, ऐसा किसी को मालूम ही नहीं होता·· परन्तु विस्मृति परमार्थ के लिए नाशक हो जाती है। व्यवहार में भी विस्मृति से हानि ही होती है, इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते हैं—'पमादो

मच्चुणो पदं।' अर्थात् प्रमाद—विस्मरण—मानो मृत्यु ही है। एक-एक क्षण का हिसाब रखिए तो फिर प्रमाद को घुसने की जगह ही नहीं रहेगी। इस रीति से सारे तमोगुण को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

—आचार्य विनोबा भावे

कुछ लोग दूसरों के दोषों की ओर ही नजर फेंकते रहते हैं, लेकिन उन्हें अपने दोष देखने की फुर्सत ही नहीं मिलती। हमें अक्सर अपने मित्रों की बुराइयों को कहने और सुनने का जरूरत से ज्यादा शौक होता है। अपनी ओर देखना बहुत कम लोग जानते हैं।

\+ \+ \+

दूसरों को बुरा बताने से हम खुद बुरे बन जाते हैं, क्योंकि हम अपने दोषों को दूर करने के बजाय उन्हें भूलने का प्रयत्न करते हैं।

\+ \+ \+

सुख और शान्ति का झरना हमारे अन्दर ही है। अगर हम अपने मन और हृदय को पवित्र कर सकें तो फिर तीर्थों में भटकने की ज़रूरत नहीं रहेगी।

—श्रीमन्नारायण

आजकल हम लोगों को अपने मन आत्मा की मुक्ति की इतनी चिन्ता नहीं है, जितनी कि समाज के सुधार की।

\+ \+ \+

हमारी गलतियों और हमारे भूल करने का अच्छी तरह से विश्लेषण और बिना किसी मीन-मेख के स्वीकार हो जाना, उनके होने वाले सुधार के लिए, नितान्त आवश्यक है। क्योंकि सच्चाई के साथ अपनी भूल को स्वीकार करना, हर प्रकार के सुधार का मूलमंत्र है।

—डॉ० एस० राधाकृष्णन्

जीवन में असफल होने वालों की समाधि पर असावधानी और लापरवाही आदि शब्द लिखे जाते हैं।

—स्वेट मार्डेन

पानी जैसी चंचलता से मनुष्य ऊँचा नहीं उठ सकता।

—वर्क

जो व्यक्ति अपने हृदय में दुर्गुणों पर इतना विजयी हो गया है कि दुर्गुणों के प्रकार और उनके उद्गम को जान सके तो वह किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करेगा, किसी भी प्राणी का तिरस्कार नहीं करेगा।

\+ + +

शान्ति उसे ही प्राप्त होती है, जो अपने ऊपर विजय प्राप्त करता है, जो प्रतिदिन अधिकाधिक आत्मसंयम और मस्तिष्क को अपने अधिकार में रखने का शान्तिपूर्वक उद्योग करता है।

\+ + +

मनुष्य बुरे स्वभाव, घृणा, स्वार्थ, तथा अश्लील और गर्हित विनोदों के द्वारा अपना संहार करता है और फिर जीवन को दोष देता है। उसे स्वयं अपने आपको दोष देना चाहिए।

. . .

सोने से पहले तीन चीजों का हिसाब अवश्य कर लेना चाहिए। पहली बात यह सोचो कि आज के दिन मुझ से कोई पाप तो नहीं हुआ है। दूसरी बात यह सोचो कि आज कोई उत्तम कार्य किया है या नहीं? तीसरी बात यह सोचो कि कोई करने योग्य काम मुझ से छूट गया है या नहीं?

—अफलातून

यदि हम यह कहते हैं कि हम में कोई पाप नहीं है तो हम अपने को धोखा देते हैं और सत्य से हाथ धोते हैं।

—जान

मिटा दे अपनी ग़फ़लत फिर जगा अरबाब ग़फ़लत को,
उन्हें सोने दे पहले ख्वाब से बेदार तू होजा।

—सीमाब अकबराबादी

यदि जग में है ईश्वरता,
तो है मनुष्यता में ही।
है धर्म तत्त्व अन्तर्हित,
मन की पवित्रता में ही॥

× × × ×

शठता प्रकट जिसने अपनी सदैव हो,
उचित नहीं है कभी ऐसी हठ ठानना।
यदि होगई हो अपने से कभी कोई भूल,
चाहिए तुरन्त हमें वह भूल मानना॥
महानता है वह सारी कमजोरियों की,
एक वह जानना है सब कुछ जानना।
जितना कठिन अपने को पहचानना है,
उतना नहीं है दूसरों को पहचानना॥

—डा० [illegible] सिंह

ऐब कसाँ मनिगरो अहसाने ख़ेश;
दीदा फ़रोबर बगरी वाने ख़ेश।

अर्थात् दूसरों के दोषों और अपने गुणों को मत देखो। जब दूसरों के दोषों की तरफ दृष्टि जाय, अपने को देखो।

—फरीदुद्दीन अत्तार

जूँ हस्ताँ ता बुवद बाक़ी बरो शैन,
ने आयद इल्मे आरिफ़ सूरते ऐन।

अर्थात् जब तक जीवन का एक भी धब्बा शेष रहता है, तब तक ज्ञानी का ज्ञान वास्तविक नहीं कहा जा सकता।

—शब्सतरी

दुनिया भर के पाप दूर हो सकते हैं, यदि उनके लिए सच्चे दिल से अफ़सोस करले।

—मुहम्मद साहब

जब तू यज्ञ में बलि देने जाय, तब तुझे याद आए कि तेरे और तेरे भाई के बीच बैर है, तो वापस हो जा और समझौता कर।

× × × ×

हे पिता! इनको (मुझे सूली पर चढ़ाने वालों को) क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं?

—ईसा मसीह



: २८ :

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—प्रतिक्रमण तो आवश्यक का एक अङ्ग विशेष है, फिर क्या कारण है कि आज कल समस्त आवश्यक क्रिया को ही प्रतिक्रमण कहते हैं?

उत्तर—यद्यपि प्रतिक्रमण आवश्यक का विशेष अङ्ग है। तथापि सामान्यतः सम्पूर्ण आवश्यक को जो प्रतिक्रमण कहा जाता है, वह रूढ़ि को लेकर है। आज कल प्रतिक्रमण शब्द सम्पूर्ण आवश्यक के लिए रूढ़ हो गया है। सामायिक आदि आवश्यकों की शुद्धि प्रतिक्रमण के बिना होती नहीं है, अतः प्रतिक्रमण मुख्य होने से यही आवश्यक रूप में प्रचलित है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण प्राकृत भाषा में ही क्यों हो? यदि प्रचलित लोकभाषा में अनुवाद कहा जाए तो अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह हो सकता है?

उत्तर—प्राचीन प्राकृत पाठों में इतनी गम्भीरता और उच्च भावना है कि उस भाव को अनुवाद में पूर्णतया उतार नहीं सकते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि मूल भावना का स्पर्श भी नहीं हो पाता। दूसरी बात [illegible] है कि [illegible] शब्दों के द्वारा [illegible] की साधना का [illegible] हैं [illegible] है। [illegible] [illegible]

बैठेंगे तो क्या स्थिति होगी? कोई कुछ बोलेगा तो कोई कुछ! इसलिए मूल प्राकृत पाठों को सुरक्षित रखना आवश्यक है। हाँ, जनता को अर्थ से परिचित करने के लिए अनुवादों का माध्यम आवश्यक है। परन्तु ये केवल अर्थ समझने के लिए हों, मूल विधि में इन्हें स्थान नहीं देना चाहिए।

प्रश्न—प्रतिक्रमण का क्या इतिहास है? वह कब और कहाँ किस रूप में प्रचलित रहा है?

उत्तर—प्रतिक्रमण का इतिहास यही है कि जब से जैनधर्म है, तब से साधु और श्रावक की साधना है, तभी से प्रतिक्रमण भी है। साधना की शुद्धि के लिए ही तो प्रतिक्रमण है। अतः जब से साधना, तभी से उसकी शुद्धि भी है। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण अनादि है।

वर्तमान काल चक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। अस्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के काल में साधक अधिक जागरूक न थे अतः उनके लिए दोष लगें या न लगें, नियमेन प्रतिक्रमण का विधान होने से ध्रुव प्रतिक्रमण है। परन्तु बीच के २२ तीर्थंकरों के काल में साधकों के अतीव विचक्षण एवं जागरूक होने के कारण दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता था, अतः इनके शासन का अध्रुव प्रतिक्रमण है। इसके लिए भगवती सूत्र, स्थानांगसूत्र एवं कल्प सूत्र वृत्ति आदि द्रष्टव्य हैं। आचार्य भद्रबाहु ने भी आवश्यक निर्युक्ति में ऐसा ही कहा है:—

काल में दैवसिक एवं रात्रिक दो ही प्रतिक्रमण होते थे, शेष नहीं। अतः सप्ततिस्थानक ग्रन्थ में कहा है :—

देवसिय, राइय, पक्खिय,
चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्हं पण पडिक्कमणा,
मज्झिमगाणं तु दो पढमा॥

उक्त दो प्रतिक्रमणों के लिए कुछ सज्जन यह सोचते हैं कि प्रातः और सायं नियमेन प्रतिक्रमण किया जाता होगा। परन्तु यह बात नहीं है। इसका आशय इतना ही है कि दिन और रात में जब भी जिस क्षण भी दोष लगता था, उसी समय प्रतिक्रमण कर लिया जाता था। उभय काल का प्रतिक्रमण नहीं होता था। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासन में भी दोष काल में ही ईर्यापथ एवं गोचरी आदि के प्रतिक्रमण के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। फिर भी साधक असावधान है। अतः सम्भव है समय पर कभी जागृत न हो सके, इसलिए उभय काल में भी नियमेन प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। परन्तु मध्यम तीर्थंकरों के शासन में साधक की स्थिति अतीव उच्च एवं विवेकनिष्ठ थी, अतः तत्काल प्रतिक्रमण के द्वारा ही नियमेन शुद्धि कर ली जाती थी। जीवन की गति पर हर क्षण कड़ी नजर रखने वालों के लिए प्रथम तो भूल का अवकाश नहीं है। और यदि कभी भूल हो भी जाए, तो तत्काल उसकी शुद्धि का मार्ग तैयार रहता है। पूर्वाचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—"पुरिम पच्छिमएहिं उभओ कालं पडिक्कमितव्वं, इरियावहियमागतेहिं उच्चार पासवण आहारादीण वा विवेगं काऊण, पदोसपच्चूसेसु, अतियारो होतु वा मा वा अवस्सं पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव ठाणेहिं। मज्झिमगाणं तित्थे जदि अतियारो अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो, अवरण्हो, मज्झण्हो, पुव्वरत्तो वा, अवररत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमंति। नत्थि तो न पडिक्कमंति,

जेण ते असढा पणणावन्ता परिणामगा, न य पमादबहुलो, तेण तेसिं एवं भवति।"

महाविदेह क्षेत्र में हमारी परम्परा के अनुसार सदाकाल २२ तीर्थंकरों के समान ही जिनशासन है, अतः वहाँ भी दोष लगते ही प्रतिक्रमण होता है, उभय काल आदि नहीं।

श्रावकों के प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में क्या स्थिति थी, यह अभी सप्रमाण स्पष्ट नहीं है। परन्तु अभी ऐसा ही कहा जा सकता है कि साधुओं के समान श्रावकों का भी अपने-अपने जिन शासन में यथाकाल ध्रुव एवं अध्रुव प्रतिक्रमण होता होगा।

प्रश्न—प्रतिक्रमण की क्या विधि है? कौन से पाठ कब और कहाँ बोलने चाहिएँ?

उत्तर—आजकल विभिन्न गच्छों की लम्बी-चौड़ी विभिन्न परम्पराएँ प्रचलित हैं। अस्तु, आज की परम्पराओं के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। हाँ उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी नामक छब्बीसवें अध्ययन में प्रतिक्रमण विधि की एक संक्षिप्त रूप रेखा है, वह इस प्रकार है—

(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में दैवसिक ज्ञान दर्शन चरित्र सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए[1]। (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करके

१—अतिचार चिन्तन के लिए आजकल हिन्दी, गुजराती भाषा में कुछ पाठ प्रचलित हैं। परन्तु पुराने काल में ऐसा कुछ नहीं था और न होना ही चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रवाह अलग-अलग बहता है, अतः प्रत्येक को अतिचार भी परिस्थिति वश अलग-अलग लगते हैं, भला उन सब विभिन्न दोषों के लिए कोई एक निश्चित पाठ कैसे हो सकता है? साधक को अतिचार सम्बन्धी कायोत्सर्ग में यह विचारना चाहिये कि अमुक दोष, अमुक समय विशेष में, अमुक परिस्थिति वश लगा है? कब, कहाँ किस के साथ क्रोध, अभिमान, छल या लोभ का व्यवहार किया है? कब, कहाँ, कौनसा विकार मन वाणी एवं कर्म के

गुरुदेव के चरणों में वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए। (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना चाहिए[१]। (४) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरुदेव को वन्दन तथा स्तुति मंगल करना चाहिए। यह दिवस प्रतिक्रमण की विधि है। यहाँ आवश्यक के अन्त में प्रत्याख्यान का विधान नहीं है।

रात्रिक प्रतिक्रमण का क्रम इस प्रकार निरूपण किया है—(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में रात्रि सम्बन्धी, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए। (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरु को वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये। (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद गुरु को वन्दन और तदनन्तर दुबारा कायोत्सर्ग करना चाहिए। (४) इस कायोत्सर्ग में अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल ग्रहण करने योग्य तदनन्तर प्रत्याख्यान का विचार करना चाहिए[२]। (५) कायोत्सर्ग पूर्ण करने

दोष में प्रकीर्णक हुआ है ? यह सोचना ही अतिचार चिन्तन है। बचे हुए पाठों के द्वारा यह प्रायः प्रकाश नहीं मिल सकता है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र में यह नहीं कहा गया कि कायोत्सर्ग में क्या चिन्तन करना चाहिए ? कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त स्वरूप है अतः वह [illegible] जो [illegible] उन्हें [illegible] में [illegible] कायोत्सर्ग [illegible] है। कायोत्सर्ग में [illegible] का चिन्तन ही [illegible] है। [illegible] कायोत्सर्ग में [illegible] पाठ [illegible] का उल्लेख [illegible] है। [illegible]

२—[illegible]

जेण ते असढा पराणावन्ता परिणामगा, न य पमादबहुलो, तेण तेसिं एवं भवति।"

महाविदेह क्षेत्र में हमारी परम्परा के अनुसार सदाकाल २२ तीर्थंकरों के समान ही जिनशासन है, अतः वहाँ भी दोष लगते ही प्रतिक्रमण होता है, उभय काल आदि नहीं।

श्रावकों के प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में क्या स्थिति थी, यह अभी सप्रमाण स्पष्ट नहीं है। परन्तु अभी ऐसा ही कहा जा सकता है कि साधुओं के समान श्रावकों का भी अपने-अपने जिन शासन में यथाकाल ध्रुव एवं अध्रुव प्रतिक्रमण होता होगा।

प्रश्न—प्रतिक्रमण की क्या विधि है? कौन से पाठ कब और कहाँ बोलने चाहिएँ?

उत्तर—आजकल विभिन्न गच्छों की लम्बी-चौड़ी विभिन्न परम्पराएँ प्रचलित हैं। अस्तु, आज की परम्पराओं के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। हाँ उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी नामक छब्बीसवें अध्ययन में प्रतिक्रमण विधि की एक संक्षिप्त रूप रेखा है, वह इस प्रकार है—

(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में दैवसिक ज्ञान दर्शन चरित्र सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए[1]। (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करके

१—अतिचार चिन्तन के लिए आजकल हिन्दी, गुजराती भाषा में कुछ पाठ प्रचलित हैं। परन्तु पुराने काल में ऐसा कुछ नहीं था और न होना ही चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रवाह अलग-अलग बहता है, अतः प्रत्येक को अतिचार भी परिस्थिति वश अलग-अलग लगते हैं, भला उन सब विभिन्न दोषों के लिए कोई एक निश्चित पाठ कैसे हो सकता है? साधक को अतिचार सम्बन्धी कायोत्सर्ग में यह विचारना चाहिये कि अमुक दोष, अमुक समय विशेष में, अमुक परिस्थिति वश लगा है? कब, कहाँ किस के साथ क्रोध, अभिमान, छल या लोभ का व्यवहार किया है? कब, कहाँ, कौनसा विकार मन वाणी एवं कर्म के

गुरुदेव के चरणों में वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए। (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना चाहिए[1]। (४) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरुदेव को वन्दन तथा स्तुति मंगल करना चाहिए। यह दिवस प्रतिक्रमण की विधि है। यहाँ आवश्यक के अन्त में प्रत्याख्यान का विधान नहीं है।

रात्रिक प्रतिक्रमण का क्रम इस प्रकार निरूपण किया है—(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में रात्रि सम्बन्धी, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए। (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरु को वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये। (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद गुरु को वन्दन और तदनन्तर दुबारा कायोत्सर्ग करना चाहिए। (४) इस कायोत्सर्ग में अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल ग्रहण करने योग्य तपरूप प्रत्याख्यान का विचार करना चाहिए[2]। (५) कायोत्सर्ग पूर्ण करने

क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है? यह सोचना ही अतिचार चिन्तन है। बँधे हुए पाठों के द्वारा यह आत्म प्रकाश नहीं मिल सकता है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र में यह नहीं कहा गया कि कायोत्सर्ग में क्या विचारना चाहिए? कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त स्वरूप है अतः वह अपने आप में स्वयं एक व्युत्सर्ग तप है। जो कष्ट हों उन्हें समभाव से सहना ही कायोत्सर्ग का ध्येय है। कायोत्सर्ग में समभाव का चिन्तन ही मुख्य है। इसीलिए मूल सूत्र में कायोत्सर्ग में पठनीय पाठ विशेष का उल्लेख नहीं है। परन्तु सभी साधक इस उच्च स्थिति में नहीं होते, इस कारण बाद में 'लोगस्स' पढ़ने की परम्परा चालू हो गई, जो आज भी प्रचलित है।

२—आज झगड़ा है कि कायोत्सर्ग में कितने लोगस्स का पाठ करना चाहिए? परन्तु आप देख सकते हैं कि मूलसूत्र में लोगस्स का

के बाद गुरु को वन्दन एवं उनसे प्रत्याख्यान कर लेना चाहिए। (६) अन्त में सिद्ध स्तुति के द्वारा आवश्यक की समाप्ति होनी चाहिए।

यह उत्तराध्ययन सूत्र कालीन संक्षिप्त विधि स्पष्ट है। दुर्भाग्य से आज इतना गड़-बड़ घोटाला है कि कुछ मार्ग ही नहीं मिलता है। कौन क्या कर रहा है, इस पर कहाँ तक टीका टिप्पणी की जाय?

प्रश्न—आवश्यक अर्थात् प्रतिक्रमण किस समय करना चाहिए?

उत्तर—दिन की समाप्ति पर दैवसिक प्रतिक्रमण होता है और रात्रि की समाप्ति पर रात्रिक। महीने में दो बार पाक्षिक प्रतिक्रमण होता है, एक कृष्णपक्ष की समाप्ति पर तो दूसरा शुक्लपक्ष की समाप्ति पर। यह पाक्षिक प्रतिक्रमण पाक्षिक दिन की समाप्ति पर ही होता है प्रातः नहीं। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण वर्ष में तीन होते हैं, एक आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन, दूसरा कार्तिक पूर्णिमा के दिन और तीसरा फाल्गुन पूर्णिमा के दिन। यह प्रतिक्रमण भी चातुर्मासिक दिन की समाप्ति पर ही होता है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण वर्ष में एक बार भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन सन्ध्या समय होता है।

दिन की समाप्ति पर सन्ध्या समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण दिन के चौथे पहर के चौथे भाग में[1], अर्थात् लगभग दो घड़ी दिन शेष रहते शय्याभूमि और उच्चार भूमि की प्रतिलेखना करने के पश्चात् प्रारंभ कर देना चाहिए। समाप्ति के समय का मूल आगम में उल्लेख नहीं है। परन्तु उपदेशप्रासाद आदि ग्रन्थों का कहना है कि सूर्य छिपते समय अथवा आकाश में प्रथम तारक-दर्शन होते समय आवश्यक पूर्तिस्वरूप

कहीं भी उल्लेख नहीं है, वहाँ तो छठे आवश्यक के रूप में ग्रहण करने योग्य तप के सम्बन्ध में विचार करने का विधान है। परन्तु साधक जब स्थूल हो गया तो चिन्तन जाता रहा, फलतः उसे लोगस्स का पाठ पकड़ा दिया। 'न' होने से कुछ होना अच्छा है।

१. देखिए, उत्तराध्ययन २६। ३८, ३९।

प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए। यह प्राचीनकाल की परंपरा है। परन्तु आजकल सूर्य के अस्त होने पर प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका कारण सन्ध्या समय के आहार की प्रथा है। उत्तराध्ययन सूत्र आदि के अनुसार जबतक साधु-जीवन में दिन के तीसरे पहर में केवल एक बार आहार करने की परंपरा रही, तबतक तो वह प्राचीन काल मर्यादा निभती रही, परन्तु ज्यों ही शाम को दुबारा आहार का प्रारंभ हुआ तो प्रतिक्रमण की कालसीमा आगे बढ़ी और वह सूर्यास्त पर पहुँच गई। समाप्ति का स्थान प्रारंभ ने ले लिया।

प्रातःकाल के प्रतिक्रमण का समय भी रात्रि के चौथे पहर का चौथा भाग ही बताया है[1]। सूर्योदय के समय प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रातःकाल की परंपरा आज भी प्रायः उसी भाँति चल रही है।

क्या प्रातःकाल के समान दैवसिक प्रतिक्रमण का भी अपना वह पुराना कालमान अपनाया जायगा? क्यों नहीं, यदि सायंकालीन आहार के सम्बन्ध में कोई उचित निर्णय हो जाय तो।

प्रश्न—आवश्यक सूत्र-पाठ का निर्माणकाल क्या है? वर्तमान आगम साहित्य में इसका क्या स्थान है? इसके रचयिता कौन हैं?

उत्तर—यह प्रश्न बहुत गंभीर है। इस पर मुझ जैसा लेखक स्पष्टतः 'हाँ या ना' कुछ नहीं कह सकता। फिर भी कुछ विचार उपस्थित किए जाते हैं।

जैन आगम साहित्य को दो भागों में बाँटा गया है—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। अङ्ग प्रविष्ट के आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह भेद हैं। अङ्ग बाह्य के मूल में दो भेद हैं आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि छह भेद हैं, और आवश्यक व्यतिरिक्त के दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। यह विभाग नन्दी-सूत्र के श्रुताधिकार में आज भी देखा जा सकता है।

१. देखिए, उत्तराध्ययन २६। ४६।

उपर्युक्त विभाग पर से यह प्रतिफलित होता है कि 'आवश्यक' अंग अर्थात् मूल आगम नहीं है, 'अंगबाह्य' शब्द ही इस बात को स्पष्ट कर देता है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य की व्याख्या भी यही है कि जो गणधर रचित हो, वह अंग-प्रविष्ट। और जो गणधरों के बाद होने वाले स्थविर मुनियों के द्वारा प्राचीन मूल आगमों का आधार लेकर कहीं शब्दशः तो कहीं अर्थशः निर्मित हो, वह अंग बाह्य। देखिए, आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में यही व्याख्या करते हैं ? "जे अरहंते हिं भगवन्ते हिं अईयाणागयवट्टमाणदव्वखेत्तकालभावजथावत्थित-दंसीहिं अत्था परूविया ते गणहरेहिं परमबुद्धि सन्निवायगुणसम्पन्नेहिं सयं चेव तित्थगरसगासाओ उवलभिऊणं सव्वसत्ताणं हितट्ठयाए सुत्तत्तेण उवणिबद्धा तं अंगपविट्ठं, आयाराइ दुवालसविहं। जं पुण अण्णेहिं विसुद्धागमबुद्धिजुत्तेहिं थेरेहिं अप्पाउयाणं मणुयाणं अप्प-बुद्धिसतीणं च दुग्गाहकं ति णाऊण तं चेव आयाराइ सुयणाणं परम्परागतं अत्थतो गंथतो य अतिबहुं ति काऊण अणुकंपानिमित्तं दसवेतालियमादि परूवियं तं अणेगभेदं अणंगपविट्ठं।"

अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य की यही व्याख्या उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ भाष्य, भट्टाकलंककृत राजवार्तिक आदि प्रायः सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में है। इस व्याख्या पर से मालूम होता है कि प्राचीन जैन परम्परा में आवश्यक को श्रीसुधर्मा स्वामी आदि गणधरों की रचना नहीं माना जाता था। अपितु स्थविरों की कृति माना जाता था।

अब प्रश्न रह जाता है कि किस काल के किन स्थविरों की कृति है ? इसका स्पष्ट उत्तर अभी तक अपने पास नहीं है। हाँ, आवश्यक सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति है, सो उनसे बहुत पहले ही कभी सूत्र पाठों का निर्माण हुआ होगा! वर्तमान आगम साहित्य के सर्व प्रथम लेखन काल में आवश्यक सूत्र विद्यमान था, तभी तो भगवती सूत्र आदि में उसका उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों को देखकर कुछ लोग कहते हैं, कि आवश्यक आदि भी गणधर कृत ही हैं, तभी तो मूल आगम में

बहुत बड़ा महत्त्व है। उपयोग शून्य अविधि से की जाने वाली साधना केवल द्रव्य साधना है, वह अन्तर्हृदय में ज्ञानज्योति नहीं जगा सकती! आचार्य हरिभद्र के शब्दों में इस प्रकार की उपयोगशून्य साधना केवल कायचेष्टा रूप है, अतः कायवासित एवं वाग्वासित है।[1] जब तक साधना मनोवासित न हो, तब तक कुछ भी अच्छा परिणाम नहीं आता है। अच्छा परिणाम क्या, बुरा परिणाम ही आता है। मुख से पाठों को दुहराना, परन्तु तदनुसार आचरण न करना, यह तो स्पष्टतः मृषावाद है। और यह मृषावाद विपरीत फल देने वाला है।

कुछ लोग अविधि एवं अशुद्ध विधि के समर्थन में कहते हैं कि जैसा चलता है चलने दो! न करने से कुछ करना अच्छा है। शुद्ध विधि के आग्रह में रहने से शुद्ध क्रिया का होना तो दुर्लभ है ही, और इधर थोड़ी बहुत अशुद्ध क्रिया चलती रहती है, वह भी छूट जायगी। और इस प्रकार प्राचीन धर्म परम्परा का लोप ही हो जायगा।

इसके उत्तर में कहना है कि धर्म परम्परा यदि शुद्ध है तब तो वह धर्म परम्परा है। यदि उपयोग शून्य भारस्वरूप अशुद्ध क्रिया को ही धर्म कहा जाता है, तब तो अनर्थ ही है। अशुद्ध परम्परा को चालू रखने से शास्त्र विरुद्ध विधान को बल मिलता है, और इसका यह परिणाम होता है कि आज एक अशुद्ध क्रिया चल रही है तो कल दूसरी अशुद्ध क्रिया चल पड़ेगी! परसों कुछ और ही गड़बड़ हो जायगी। और इस प्रकार गन्दगी घटने की अपेक्षा निरन्तर बढ़ती जायगी, जो एक दिन सारे समाज को ही विकृत कर देगी। अस्तु साधक

१—इहरा उ कायवासियपायं,
अहवा महामुसावाओ।
ता अणुरूवाणं चिय,
कायव्वो एस विन्नासो॥

—योगविंशिका १२!

के लिए आवश्यक है कि वह भावना की शुद्धता का अधिक ध्यान रखे। जान बूझ कर भूल को प्रश्रय देना पाप है।

कुछ भी न करने की अपेक्षा कुछ करने को शास्त्रकारों ने जो अच्छा कहा है, उसका भाव यह है कि व्यक्ति दुर्बल है। वह प्रारम्भ से ही शुद्ध विधि के प्रति बहुमान रखता है और तदनुसार ही आचरण भी करना चाहता है, परन्तु प्रमादवश भूल हो जाती है और उचित रूप में [illegible] नहीं कर पाता है। इस प्रकार के विवेकशील जागृत साधकों के लिए कहा जाता है कि जो कुछ बने करते जाओ, जीवन में कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। भूल हो जाती है, इसलिए छोड़ बैठना ठीक नहीं है। प्राथमिक अभ्यास में भूल हो जाना सहज है, परन्तु भूल सुधारने की दृष्टि हो, तदनुकूल प्रयत्न भी हो तो वह भूल भी [illegible] में भूल नहीं है। यह अशुद्ध क्रिया, एक दिन शुद्ध क्रिया का रूप ले सकती है। जानबूझ कर पहले से ही अशुद्ध परम्परा का अवलम्बन करना एक बात है, और शुद्ध प्रवृत्ति का लक्ष्य रखते हुए, उसके अनुकूल प्रयत्न करते हुए भी असावधानीवश भूल हो जाना दूसरी बात है। पहली बात का किसी भी दशा में समर्थन नहीं किया जा सकता। हाँ, दूसरी बात का समर्थन इस लिए किया जाता है कि [illegible] की दुर्बलता है, न कि समाज की अशुद्ध परम्परा [illegible] है। समाज में फैली हुई अशुद्ध विधि विधानों की परम्परा का तो डट कर विरोध करना चाहिए। हाँ, व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी प्राथमिक अभ्यास की दुर्बलता निरन्तर संघर्ष रखने से एक दिन दूर हो सकती है। [illegible] के अभ्यास करने वाले यदि जागृत चेतना से अभ्यास करते हैं तो [illegible] पहले पहल कुछ भूलें भी होती हैं, परन्तु एक दिन [illegible] के पारंगत पण्डित हो जाते हैं। एक-एक जल बिन्दु के [illegible] होते होते एक दिन सरोवर भर जाते हैं। प्राथमिक असफलताओं से [illegible] होना [illegible] की कायरता है। जो लोग [illegible] के डर से कुछ भी नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा ये अच्छे

हैं, जो साधना करते हैं, असफल होते हैं, और फिर साधना करते हैं। इस प्रकार निरन्तर भूलों एवं असफलताओं से संघर्ष करते हुए जागृत चेतना के सहारे एक दिन अवश्य ही सफलता प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार के साधकों को लक्ष्य में रखकर कहा है:—

अविहिकया वरमकयं,
उस्सुय-सुतं भणंति गीयत्था।
पायच्छित्तं जम्हा,
अकए गुरुयं कए लहुयं ॥

—अविधि से करने की अपेक्षा न करना अच्छा है, यह उत्सूत्र वचन है। क्योंकि धर्मानुष्ठान न करने वाले को गुरु प्रायश्चित आता है, और धर्मानुष्ठान करते हुए यदि कहीं प्रमादवश अविधि हो जाय तो लघुप्रायश्चित्त होता है।

प्रश्न—जो गृहस्थ देश विरति के रूप में किसी व्रत के धारक नहीं हैं, उनको प्रतिक्रमण करना चाहिए, या नहीं? जब व्रत ही नहीं है तो उनकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—व्रत हों, या न हों, फिर भी प्रतिक्रमण करणीय है। जिसको व्रत नहीं है, वह भी प्रतिक्रमण के लिए सामायिक करेगा, चतुर्विंशतिस्तव एवं वन्दना, क्षमापना आदि करेगा तो उसको भाव-विशुद्धि के द्वारा कर्मनिर्जरा होगी। और दूसरी बात यह है कि प्रतिक्रमण मिथ्या श्रद्धान और विपरीत प्ररूपणा का भी होता है। अतः सम्यक्त्व-शुद्धि का प्रतिक्रमण भी जीवन-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण किस दिशा की ओर मुख करके करना चाहिए?

उत्तर—आगम साहित्य में पूर्व और उत्तर दिशा की ओर मुख करके प्रतिक्रमण करने का विधान है। पश्चात्कालीन आचार्य भी यही परम्परा मानते रहे हैं, पञ्च वस्तुक में लिखा है—'पुव्वाभि मुहा उत्तर मुहा य आवस्सयं पकुव्वंति।' पूर्व और उत्तर दिशा का वैज्ञानिक-दृष्टि से क्या महत्त्व है, यह लेखक के सामायिक सूत्र में देखना चाहिए।

सन्मति ज्ञान पीठ के प्रकाशन

सामायिक-सूत्र

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज]

प्रस्तुत ग्रन्थ उपाध्याय जी ने अपने गम्भीर अध्ययन, गहन चिन्तन और सूक्ष्म अनुशीलन के बल पर तैयार किया है। सामायिक सूत्र पर ऐसा सुन्दर विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है कि सामायिक का लक्ष्य तथा उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। भूमिका के रूप में, जैन धर्म एवं जैन संस्कृति के सूक्ष्म तत्त्वों पर आलोचनात्मक एक सुविस्तृत निबन्ध भी आप उसमें पढ़ेंगे।

इस में शुद्ध मूल पाठ, सुन्दर रूप में मूलार्थ और भावार्थ, संस्कृत प्रेमियों के लिए छायानुवाद और सामायिक के रहस्य को समझाने के लिए विस्तृत विवेचन किया गया है। मूल्य २॥)

सत्य-हरिश्चन्द्र

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज]

'सत्य हरिश्चन्द्र' एक प्रबन्ध-काव्य है। राजा हरिश्चन्द्र की जीवन-गाथा भारतीय जीवन के अणु अणु में व्याप्त है। सत्य परिपालन के लिए हरिश्चन्द्र कैसे-कैसे कष्ट उठाता है और उसको रानी एवं पुत्र रोहित पर क्या क्या आपदाएँ आती हैं, फिर भी सत्यप्रिय राजा हरिश्चन्द्र सत्य-धर्म का पल्ला नहीं छोड़ता, यही तो वह महान् आदर्श है, जो भारतीय-संस्कृति का गौरव समझा जाता है।

कुशल काव्य कलाकार कवि ने अपनी साहित्यिक लेखनी से राजा हरिश्चन्द्र, रानी तारा और राजकुमार रोहित का बहुत ही रमणीय चित्र खींचा है। काव्य की भाषा सरल और सुबोध तथा भावाभिव्यक्ति प्रभाव-शालिनी है। पुस्तक की छपाई सफाई सुन्दर है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १)।

जैनत्व की झाँकी

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज]

इस पुस्तक में महाराज श्री जी के निबन्धों का संग्रह किया गया है। उपाध्याय श्री जी एक कुशल कवि और एक सफल समालोचक तो हैं ही! परन्तु वे हमारी समाज के एक महान् निबन्धकार भी हैं। उनके निबन्धों में स्वाभाविक आकर्षण, ललित भाषा और ठोस एवं मौलिक विचार होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में जैन-इतिहास, जैन-धर्म, और जैन-संस्कृति पर लिखित निबन्धों का सर्वाङ्ग सुन्दर संकलन किया गया है। निबन्धों का वर्गीकरण ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक रूपों में किया गया है। जैन धर्म क्या है? उसकी जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में क्या मान्यताएँ हैं और जैन-संस्कृति के मौलिक सिद्धान्त कर्मवाद और स्याद्वाद जैसे गम्भीर एवं विशद विषयों पर बड़ी सरलता से प्रकाश डाला गया है। निबन्धों की भाषा सरस एवं सुन्दर है।

जो सज्जन जैन-धर्म की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। हमारी समाज के नवयुवक भी इस पुस्तक को पढ़कर अपने धर्म और संस्कृति पर गर्व कर सकते हैं। पुस्तक सर्वप्रकार से सुन्दर है। राजसंस्करण का मूल्य १।) साधारण संस्करण का मूल्य ।॥) ।

भक्तामर-स्तोत्र

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज]

आपको भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति अब तक संस्कृत में ही प्राप्त थी। उपाध्याय श्री जी ने भक्तों की कठिनाई को दूर करने के लिए सरल एवं सरस अनुवाद और सुन्दर टिप्पणी एवं विवेचन के द्वारा भक्तामर-स्तोत्र को बहुत ही सुगम बना दिया है। संस्कृत न जानने वालों के लिए हिन्दी भक्तामर भी जोड़ दिया गया है। मूल्य ।~) ।

श्रमण-सूत्र

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज]

श्रमण सूत्र (प्रतिक्रमण) साधु जीवन की अमूल्य वस्तु है। प्रातः काल और सायं काल उभय वेला में प्रति दिवस प्रतिक्रमण करना साधु का परम कर्तव्य है। परन्तु जैसी दुर्दशा प्रतिक्रमण के पाठों की हुई है, वैसी सम्भवतः अन्य किसी ग्रन्थ की न हुई होगी। खेद है कि उस का शुद्ध पाठ भी तो अभी तक प्रस्तुत नहीं किया गया। और इस दिशा में अभी तक जो कुछ थोड़ा-बहुत प्रयास भी हुआ है, वह बिल्कुल अधूरा ही है।

इस ग्रन्थ में शुद्ध मूल पाठ, विशुद्ध एवं रमणीय मूलार्थ एवं भावार्थ, संस्कृत प्रेमियों के लिए छायानुवाद और प्रत्येक पाठ पर विस्तृत भाष्य किया गया है। प्रारम्भ में भूमिका के रूप में एक विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध है, जिस में प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में विस्तार से ऊहापोह किया गया है! उपाध्याय श्री जी ने अपने विशाल अध्ययन, गम्भीर चिन्तन और अपने निजी अनुभव से ग्रन्थ को गौरवशाली बनाया है।

ज्ञान-पीठ के अभी तक के प्रकाशनों में यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है और अपने ढंग का सब से निराला है। सुन्दर छपाई, सुन्दर जिल्द और मजबूत कागज पर छपा है। इस ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या ६०० के लगभग होगी।